

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TIGHT BINGING
BOOK**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182065

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801

Accession No. G.H 1836

Author

V99A

Title

आलोचना के सिद्धान्त

This book should be returned on or before the date last marked below.

आलोचना के सिद्धान्त

हमारा आलोचनात्मक साहित्य

काव्य के रूप	गुलाबराय ५)
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय ६)
साहित्य-विवेचन	समन और मल्लिक ६॥)
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त	” ” ३)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय तथा स्नातक ६)
महादेवी वर्मा	शचीरानी गुट्टू ६)
सुमित्रानन्दन पंत	शचीरानी गुट्टू ६)
हिन्दी के आलोचक	शचीरानी गुट्टू ८)
प्रेमचन्द : जीवन-कला और कृतित्व	हंसराज रहबर ६॥)
प्रसाद : जीवन-कला और कृतित्व	महावीर अधिकारी ८)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	डा० सावित्री सिन्हा ८)
कबीर-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा २॥)
सूर-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा २॥)
जायसी-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा २॥)
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा २॥)
तुलसी और उनका काव्य	सत्यनारायणसिंह ॥॥)
हिन्दी-काव्य-विमर्श	गुलाबराय ३॥)
हिन्दी-नाटककार	जयनाथ 'नलिन' ५)
हिन्दी-निबन्धकार	जयनाथ 'नलिन' ६)
रेडियो-नाटक	हरिश्चन्द्र खन्ना ६)
कहानी और कहानीकार	मोहनलाल 'जिज्ञासु' ३)
कामायनी-दर्शन	सहल और स्नातक ४)
हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र	आचार्य विश्वेश्वर १२)
हिन्दी-वक्तोक्तिजीवितम्	आचार्य विश्वेश्वर १६)
साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय १॥॥)
साहित्यानुशीलन	शिवदानसिंह चौहान ६)
प्रन्तुलन	प्रभाकर माचवे ४)

आलोचना के सिद्धान्त

लेखक
व्योहार राजेन्द्रसिंह

सादर सन्मन्त्रार्थ

१९५५
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

Checked 1965

Checked 1969

सर्वाधिकार सुरक्षित
मूल्य ४)

मुद्रक
रमेश प्रेस
लायब्रेरी रोड, दिल्ली

भूमिका

साहित्य के सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों तथा समालोचकों ने विचार प्रकट किये हैं। हमारे देश में जिस समय संस्कृत साहित्य विकसित हो चुका था उसमें भी महान् आलोचक उत्पन्न हुए।

हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों में पौर्वात्य पद्धति के आधार पर शास्त्रीय पद्धति की व्याख्या करने वाले रामदहिन मिश्र तथा कन्हैयालाल पोद्दार हैं। नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री गुलाबराय हैं। कवि का स्वगत दृष्टिकोण के दर्शन कराने वाले सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा वास्वयान हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना-पद्धति के समर्थक राम-विलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमुख हैं। अभिव्यंजना के पक्षपाती श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', स्वतन्त्र दृष्टिकोण वाले शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० देवराज, इलाचन्द जोशी, ललिता प्रसाद सुकुल तथा ललित विलोचन शर्मा हैं।

भरतमुनि, व्यास, मेधावी, महिम भट्ट, दण्डी, वामन, रुद्रट, उद्भट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनय गुप्त, कुन्तक, मम्मट, भोज, क्षेमेन्द्र, भामह, रुथक, मंखक, वाग्भट्ट, हेमचन्द्र, भानुदत्त, विद्याधर, वाग्भट्ट (द्वितीय) विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में मुरारदान, केशवदास, कुलपति, देव, सूरति, कुमार मणि, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसिंह, जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, पद्माकर, तोष, लछिराम, जयराज, रणधीरसिंह, सुखदेव, उजयारे, दीपसिंह, और वेनी ने काव्यशास्त्र का विषय विवेचन किया है। जिनके सिद्धान्तों का आधार लेकर आधुनिक आलोचकों ने बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण किया है। आधुनिक काल में श्री अरविन्द तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आलोचना साहित्य में योगदान किया है।

उसी प्रकार यूरोप में ग्रीस और रोम तथा उसके बाद जर्मनी और इंग्लिस्तान में साहित्यिक उन्नति के साथ-साथ अनेक समालोचकों का उदय हुआ जिन्होंने साहित्य और काव्य के सिद्धान्तों की स्थापना की और साहित्य-समालोचना का सूत्रपात किया। इनमें प्लेटो, (अफलातून) अरिस्टाटल (अरस्तू), एडीसन, लेसिंग, विकटर कज़िन्स तथा उसके बाद आधुनिक काल में स्टीफन गोसेन, स्पेन्सर, पीकाक, शैली, मैथ्यू अर्नोल्ड, तालस्ताय, टेन, एवर क्राम्पी, लोब्जाइनस, आगस्त, लिथे, इर्ने, बोदेलेयर, सन्तव्युव, मोरेआज, अनातोले बुज, लूकस, हर्वर्ट, रीज, डेवी, पाल एमुअर, ऑन्ड्रे ब्रेतां, ऑन्ड्रे जींद, ज्यापोल, हरवर्ट रीड, जार्ज लूने, कौंचे, रीवरा, स्लावनाव, विकटर ह्यूगो, गतिपर, गाँकूँस, रेनान, प्लोवर्त्त, स्विनबर्न, लांगिनस, रेम्बे, मेलामें, जोला, जारा, फिलिप सुपोल, किकं गार्ड, हेडगर, इजारा पाउण्ड, निकोलस, वर्दयीव, मार्टिन ववूर, लुईमफोर्ड, कार्ल पनहम, हेराल्ड लास्की, वेलिन्सकी, इलियट तथा रिचर्ड्स आलोचक हुए हैं।

सबने यह बात स्वीकार की है कि साहित्य एक महान् कला है। बहुतों ने तो काव्य-कला को सर्वश्रेष्ठ कला माना है। कुछ भी हो, एक महान् कला के नाते उसके भी सिद्धान्त और विशेष नियम हैं जिनके आधार पर उस कला में दक्षता प्राप्त की जाती है और जिनकी कसौटी पर काव्य की परीक्षा की जा सकती है। अतएव काव्य-दक्षता अथवा साहित्य-समालोचना दोनों ही के लिए यह आवश्यक है कि साहित्य के सिद्धान्तों और काव्य-कला के नियमों को हम अच्छी तरह हृदयंगम करें।

संसार में किसी भी विषय पर एक मत होना कठिन है। 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' के अनुसार जब साधारण बातों में भी साधारण जनों में मतभेद होता है तब तात्त्विक विषयों पर गहन और मौलिक विचार करने वाले विद्वानों में मतभेद होना स्वाभाविक ही है। बहुत सा मतभेद तो किसी एक विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने के ही कारण होता है। इसलिए उसके मूल तत्व तक पहुँच जाने पर विरोधी दीखने वाले मतों में एकसूत्रता की भीतरी धारा लक्षित होती है। साथ ही हजारों मील की दूरी पर रहने वाले भिन्न-

भिन्न देशों और कालों में उत्पन्न विद्वानों में अद्भुत मतैक्य भी दीख पड़ता है। यदि हमारी दृष्टि निष्पक्ष भाव से सत्य की खोज की ओर रहे और केवल दूसरों के विचारों के पीछे चलने की अपेक्षा हम स्वयं विचार करना सीखें तो हम सत्य के अधिक समीप पहुँच सकते हैं।

आलोचकों के सामने मुख्य प्रश्न यह है कि किसी कलाकृति को किस कसौटी पर कसा जावे, क्या उसकी गम्भीरता को कसौटी बनाया जावे अथवा उसकी रमणीयता को? चिन्तनशील व्यक्ति किसी भी कलाकृति की गम्भीरता से प्रभावित होते हैं जबकि जनसाधारण उस सतह तक पहुँच ही नहीं पाते। अतः वे उसकी रमणीयता पर ही मुग्ध हो जाते हैं। जो कृति उनको जितना ही अधिक आनन्द दे सके वे उसकी ओर उतने ही अधिक आकर्षित और प्रभावित होते हैं। इस प्रकार पाठकों की तरह आलोचकों की भी मनोवृत्तियों के अनुसार कलाकृति के दो मानदण्ड हो जाते हैं—गम्भीरता और रमणीयता। मैथ्यू अरनोल्ड ने कलाकृति के लिए उसकी 'उच्च गम्भीरता' के साथ 'उच्च सौन्दर्य', मूल्य और शक्ति को भी काव्य की कसौटी माना है। इस मत में गम्भीरता (सीरियसनेस) और रमणीयता (सौन्दर्य) तथा उपादेयता और शक्ति (पावर) इन सभी विभिन्न मतों का समन्वय हो जाता है। शक्ति और निपुणता को हमारे आचार्यों ने भी माना है।¹

किन्तु इन सब बातों को समझने के लिए शिक्षा और अभ्यास दोनों की आवश्यकता है जिसे कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य के उद्भव का कारण माना है।² पश्चिमी समालोचक वाल्टर पेटर ने इसे दीक्षा की परम्परा (process of initiation) कहा है। इस शिक्षा और अभ्यास के द्वारा समालोचक तथा विद्वान् और एकाग्र पाठक कलाकृति की विशेषता को समझने में समर्थ होते हैं। शिक्षा और अभ्यास परिश्रम साध्य और विद्वज्जनोचित होने के कारण यह कहा गया है कि विद्वान् ही सच्चा समालोचक

१. शक्तिनिपुणता चैन।

२. काव्यार्थशिक्षाभ्यास इति हे तुस्तदुद्भवे।

हो सकता है क्योंकि वही विद्वान् के परिश्रम को समझ सकता है। अंग्रेजी समालोचक बेन जॉनसन ने भी विद्वानों के सहमति (consent of the learned) को आवश्यक माना है जो कि हमारे प्राचीन कवि भव-भूति की इस उक्ति से मिलता-जुलता है कि विद्वानों के परितोष के बिना काव्य सफलता नहीं मानी जा सकती।^१

किन्तु संसार में विद्वानों की संख्या कम और जनसाधारण की संख्या अधिक है। अतः उन्हीं के लिए अधिक साहित्य सृजन होगा और उन्हीं की दृष्टि से उसका महत्व आँकना होगा। इस दृष्टि से पश्चिमी आलोचक लाङ्गिनस (Longenus) ने बड़े विस्तार के साथ सौन्दर्यपूर्ण कलाकृति की विवेचन के सिद्धान्तों की चर्चा की है। पहली कसौटी यह है कि उस कलाकृति में ऐसे प्रसंग होने चाहिए जो सदा आनन्द प्रदान करें और सभी पाठकों को प्रसन्न करें। दूसरे, समालोचक को बहुत परिश्रम से अध्ययन करने के बाद अपना निर्णय देना चाहिए। तीसरे, वही साहित्य उत्तम है जो ध्यान को अधिक-से-अधिक आकर्षित करे। वह मन पर इस प्रकार अचानक और दृढ़ता के साथ असर कर दे जो कभी भुलाया न जा सके। चौथे, वही कलाकृति उत्तम है जो कि प्रसिद्ध कलाकारों के अनुरूप सिद्ध हो। इसी वाक्य को होमर प्लेटो, डिमास्थनीज (अथवा वाल्मीकि कालिदास या तुलसीदास ने) किस प्रकार लिखा होता अथवा किसी कलाकृति पर उन्होंने किस प्रकार अपना मत प्रगट किया होता यही उसकी सबसे बड़ी कसौटी है। इस प्रकार लॉजिनस जॉनसन के इस मत से सहमत जान पड़ते हैं कि कवियों का निर्णय करने के लिए कवियों की ही प्रतिभा समर्थ है। (to judge the poets is only the faculty of poets.)

यह बात सर्वसम्मत है कि आनन्द प्रदान करना कलाकृति का उद्देश्य है किन्तु यह आनन्द क्यों प्राप्त होता है और कैसे प्राप्त होता है यह जानना

१. विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जन परिश्रमम्।

२. अपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

एक कठिन काम है। साधारण पाठक तो केवल आनन्द या शिक्षा प्राप्त करके ही संतुष्ट हो जाता है। वह उसका कारण या प्रक्रिया खोजने का प्रयत्न नहीं करता। यह कार्य वह आलोचक पर छोड़ देता है जो कि शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान अथवा अध्यात्म के द्वारा उसके कारण और प्रक्रिया की खोज करता है। आलोचक का कर्तव्य हो जाता है कि वह सौन्दर्य या आनन्द की वस्तु को समग्र रूप से देखने का प्रयत्न करे। उसके खण्ड-खण्ड या अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग देखने से सौन्दर्य या आनन्द नष्ट हो जाता है। सन्तुलन ही में सौन्दर्य निवास करता है और समग्रता ही में आनन्द।

किसी भी कलाकार का साधन शब्दों तथा छन्दों के द्वारा अपने भावों का प्रकाशन करना होता है। उन्हीं के द्वारा वह अपने अभिलषित अर्थ का प्रकाशन करता है। तुलसीदास जी ने यह कहा है :—

कविहि अरथ आखर बल सांचा।

अन्तर और अर्थ ही उनका सच्चा बल है। समालोचक देखता है कि कवि ने किस प्रकार की भाषा का उपयोग किया है और उस भाषा के द्वारा वह कहाँ तक अपना अर्थ प्रगट करने में समर्थ हुआ है। पहिले तो शब्द-सौन्दर्य, और छन्दों की लय ही उसका ध्यान आकर्षित करती है। उसके बाद आलोचक का ध्यान भाषा की ओर जाता है। वह देखता है कि कहाँ तक कलाकार की भाषा उसके विषय के अनुरूप है तथा उसकी भाषा कहाँ तक पाठकों के योग्य है; उसमें केवल अलंकार और शब्दों का जाल मात्र है अथवा उसमें शब्द-सौन्दर्य के साथ भाव-सौन्दर्य भी है। कलाकार की शैली कहाँ तक जनसाधारण को रुचिकर और बोधगम्य है। भाषा और शैली के पश्चात् उसका ध्यान कथावस्तु की ओर जाता है। वह देखता है कि कहाँ तक कलाकार के द्वारा चुना हुआ कथानक जनसाधारण के उपयुक्त और उपयोगी है। अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में कलाकार कहाँ तक सफल हुआ है यह भी समालोचक परखता है। अपने विषय का प्रतिपादन

करने में वह कहाँ तक सफल हुआ है इसकी एक मात्र कसौटी है—पाठकों के हृदय और मस्तिष्क पर उसका प्रभाव। वह जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है वह उत्पन्न कर सका या नहीं इसी में कलाकार की सफलता या असफलता निर्भर है। इसी दृष्टि से वह कलाकार के गुणों और दोषों का विवेचन करता है।

भाषा और भाषा साहित्य के दो प्रमुख अंग हैं। इनके सम्बन्ध में समालोचक विचार करता है। ग्रीस के एरिस्टो फेनीज की प्रसिद्ध पुस्तक में कवि एकिलस यूरीपिडीज से पूछता है—वह कौन सा विशेष गुण है जिससे कवि प्रशंसनीय हो सकता है ?

एकिलस उत्तर देता है कि कवि को कोई महान् विषय और उदात्त भावना चुननी चाहिए जो कि प्रांजल भाषा में व्यक्त की जा सके :—

“The poet should choose a great subject and great sentiments which lend themselves to magnificence of language.”

इसके उत्तर में यूरीपिडीज दैनिक जीवन की घटनाओं और जनसाधारण की भाषा का समर्थन करता है और कहता है कि मैं उन्हीं बातों को रंगमंच पर लाता हूँ जो कि दैनिक जीवन से सम्बन्धित हैं। हम कम-से-कम मनुष्य की भाषा का तो उपयोग करें :—

“Oh, let us at best use the language of men.”

इस प्रकार दो मत हैं। एक कहता है कि हमें महान् विषय और प्रांजल भाषा का प्रयोग करना चाहिए और दूसरा कहता है कि हमें दैनिक जीवन के साधारण विषय और जनसाधारण की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। गो० तुलसीदास जी ने इन दोनों में से एक-एक बात को चुन लिया है : विषय तो ऊँचा हो किन्तु भाषा सरल हो। उनका आदर्श है :—

सरल कवित्त की रति विमल,
नेहि आदरिहि सुजान।

विद्वानों के उपयुक्त साहित्य में चाहे उदात्त विषयों को ऊँची भाषा में

प्रगट करें किन्तु लोक-साहित्य के लिए तो हमें उदात्त विषयों को जनसाधारण की भाषा में ही व्यक्त करना होगा। तभी वह जनता तक पहुँच सकेगा।

2 दूसरे जो कलाकार की विशेषता होनी चाहिए वह है : अपने विषय पर अधिकार तथा अपने माध्यम को विषयानुसार परिवर्तन करने की क्षमता। कलाकार अपने माध्यम को अपने विचार के वाहन के रूप में इच्छानुसार ढाल सके यह उसकी सबसे बड़ी सफलता है। प्रोफेसर बोसनक्वेट इसे माध्यम के अन्तर पर विजय प्राप्त करना (conquest of the difference of medium) कहते हैं।

इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने होमर के इलियड से एक पंक्ति उद्धृत की है जिसमें एकिलीज की ढाल पर की गई कारीगरी की प्रशंसा की गई है। उस ढाल पर दृश्यों के साथ खेत पर हल चलाते हुए किसान का चित्र इस योग्यता से अंकित किया गया है कि जैसे-जैसे हल आगे बढ़ता जाता है भूमि काली होती जाती है। मतलब यह कि ढाल सोने की होने पर भी उस पर कालिमा का प्रभाव उत्पन्न करना एक कुशल कलाकार ही कर सकता है। इसी प्रकार कवि में भी अपने माध्यम को बदलने, उस पर विजय प्राप्त करने, की क्षमता होनी चाहिए। होमर, वाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास सभी प्रसिद्ध कवियों में यह क्षमता थी इसलिए वे महान् कहे जाते हैं।

3 कलाकार का तीसरा गुण है आनन्द प्रदान करना। होमर के दूसरे काव्य ओडेसी में गायक डेमोडिकस की इसलिए प्रशंसा की गई है कि उसमें सभा को आनन्दित करने की क्षमता थी। यही आनन्द प्रदान की क्षमता कलाकार का प्रधान गुण माना जाता है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है; उसे लोकहित का कार्य भी करना चाहिए।

एरिस्टोफेनीज अपने ग्रन्थ में कवियों की श्रेष्ठता का क्या मापदण्ड होना चाहिए इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि—

“यदि उसको कला सच्ची है और उसकी सलाह अच्छी है और मनुष्यों को किसी न किसी प्रकार से उच्च बनाने में राष्ट्र की सहायता करती है तो वह उत्तम कवि है।”

हमारे यहाँ भी प्राचीन आचार्यों ने आनन्द प्रदान के अतिरिक्त अशिव का नाश (शिवेतरक्षत) ही को काव्य का आदर्श माना है। तुलसीदास जी ने भी कहा है—

“कीरति भनिति भूति भलि सोई।

✓ सुरसरि सम सबु कँह हित होई॥”

इस प्रकार रमणीयता और उपादेयता, आनन्द और हित-भावना, दोनों का सम्मिलन उत्तम कला-कृति का अनिवार्य लक्षण है।

इन सभी विभिन्न दृष्टिकोणों को एकत्र करके संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव कर यह पुस्तक तैयार की गई है। यदि इससे साहित्य-प्रेमियों का तनिक भी लाभ हुआ तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

१२ सितम्बर, १९५५

—लेखक

व्योहार बाग, जबलपुर।

विषय-सूची

प्रथम भाग : सिद्धान्त

अध्याय		पृष्ठ
१.	आलोचना के दृष्टिकोण ...	१
२.	भारतीय आलोचना-शास्त्र ...	११
३.	काव्य का स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा ...	१५
४.	काव्य के भेद ...	२३
५.	रस-सम्प्रदाय ...	३०
६.	हिन्दी के साहित्य-सम्प्रदाय ...	३६
७.	सौन्दर्य और अभिव्यंजना ...	४४
८.	रसों का उन्नयन और सौन्दर्य-दर्शन ...	५१
९.	आलोचना सम्बन्धी अन्य वाद ...	६६

द्वितीय भाग : आलोचना का विकास

१.	साहित्य ज्ञान का साधन है ...	७४
२.	साहित्य : कला का अंग ...	८३
३.	वर्तमान समालोचना का उद्गम ...	९०
४.	काव्यगत न्याय ...	९६
५.	कल्पना : काव्य का अनिवार्य अंग ...	१०७
६.	कलात्मक आलोचना का विकास ...	११६
७.	तात्त्विक समालोचना का विकास ...	१२७
८.	कविता की प्रकाशन-शक्ति ...	१४१
९.	कविता जीवन की आलोचना है ...	१५३
१०.	नाटक : एक सम्मिलित कला ...	१६५
११.	कथा-साहित्य ...	१७५
१२.	समालोचक का अधिकार और कर्तव्य ...	१८२
१३.	संदर्भ ग्रन्थ ...	२०६

आलोचना के सिद्धान्त

प्रथम भाग

सिद्धान्त

प्रथम अध्याय

आलोचना के दृष्टिकोण

शास्त्र और साहित्य—मनुष्य का व्यक्तित्व बहुमुखी है। उसमें मस्तिष्क, हृदय, उदर तथा हाथ पैर आदि अंग प्रधान हैं। इन्हें चिन्तन, रक्षण, पोषण तथा सेवा का प्रतीक माना गया है और इन्हीं की उपमा लेकर समाज रूपी शरीर में चिन्तनप्रधान ब्राह्मण, रक्षणप्रधान क्षत्रिय, भरण-पोषणप्रधान वैश्य और सेवा-सुश्रूषाप्रधान शूद्र की कल्पना की गई है। इसी प्रकार यदि हम शास्त्र को शरीर की उपमा दें तो चिन्तनप्रधान दर्शन, भरण-पोषणप्रधान अर्थशास्त्र, रक्षणप्रधान राजनीति तथा श्रमप्रधान लोक-कर्म की गणना की जा सकती है। वैसे तो लोग दर्शन को चिन्तनप्रधान और साहित्य को भावनाप्रधान बतलाकर उनको मस्तिष्क और हृदय से उपमा देते हैं। किन्तु मानसशास्त्र की दृष्टि से चिन्तन और भावना दोनों ही मस्तिष्क के कार्य हैं। शास्त्र और साहित्य में अन्तर केवल यही है कि एक ज्ञानप्रधान और दूसरा रसप्रधान होने के कारण शास्त्र गम्भीर और गूढ़ होता है जब कि साहित्य सरस और सरल होता है। अतः जन समाज उसकी ओर शास्त्र की अपेक्षा अधिक आकर्षित तथा अधिक प्रभावित होता है। कहा भी है :—

“द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कवि-कर्म च।

प्रज्ञोपन्नं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥”

इस प्रकार काव्य की उत्पत्ति प्रतिभा से और शास्त्र की प्रज्ञा से मानी गई है। अर्थात् शास्त्र विचारप्रधान है और काव्य कल्पनाप्रधान। काव्य के भी दो भेद किये जाते हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य।

कभी-कभी शास्त्र को भी साहित्य का अंग मानकर उसके दो भेद कर दिये जाते हैं—गम्भीर साहित्य और ललित साहित्य। शास्त्र या गम्भीर साहित्य

में दर्शन, विज्ञान आदि सभी चिन्तनप्रधान विवेचनात्मक साहित्य शामिल किया जाता है और ललित साहित्य में काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि। साहित्य की व्यापक व्याख्या की जाय तो जो भी समाज के लिए हितकारी है वह सभी साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है—“हितेन सहित साहित्यम्।” मुख्यतया हितात्मक साहित्य शास्त्र के अंतर्गत और सुखात्मक साहित्य काव्य के अंतर्गत समाविष्ट होता है। काव्य की जो व्याख्या की गई है (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है वह ललित साहित्य के उपयुक्त है। इसी के अनुसार शास्त्र के लिए भी व्याख्या बनाई जा सकती है कि हितात्मक वाक्य ही शास्त्र है (वाक्यं हितात्मकं शास्त्रम्)। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो काव्य में भी सुख की अपेक्षा लोक-हित ही को प्रधान मानकर कहा है—

“कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥”

पद्य—साहित्य को रुचिकर बनाने ही के लिए काव्य में संगीत और छंद की आयोजना की गई और पद्य तथा गीत काव्य का उदय हुआ। प्राचीन साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य ही में अधिक रचनाएँ की जाती थीं। यहाँ तक कि दर्शन, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, स्थापत्य तथा अर्थशास्त्र सरीखे विषयों पर भी काव्यों के रूप में ही ग्रन्थ लिखे जाते रहे। वैद्यक पर ‘लोलिम्बराज’, गणित पर ‘लीलावती’, व्याकरण पर ‘भट्टि-काव्य’, स्थापत्य पर ‘मानसार’ तथा अर्थशास्त्र पर ‘शुकनीति’ प्रसिद्ध ही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन कवियों ने शास्त्र को भी काव्य के समान सरस और हृदयग्राही बना दिया है।

गद्य—ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ पद्य का समय समाप्त हुआ और गद्य का अधिकाधिक प्रचार होने लगा। गम्भीर साहित्य में भी दर्शन की अपेक्षा विज्ञान की ओर अर्थात् चिन्तन की अपेक्षा उपयोगी विद्याओं की ओर तथा साहित्य में काव्य की अपेक्षा उपन्यास तथा नाटकों की ओर रुचि बढ़ने लगी। संस्कृत में कादम्बरी के समान उपन्यास गद्य में लिखे गये जिसकी

परम्परा को लेकर मराठी में उपन्यास को कादम्बरी ही कहते हैं। नाटकों में भी वर्णनात्मक अंश पद्य में रहता था, किन्तु वार्ता का अंश गद्य में रखना अनिवार्य था। जान पड़ता है कि कथोपकथनप्रधान नाटकों के उदय ही के कारण पद्यांश कम करके गद्यांश बढ़ाना पड़ा और धीरे-धीरे पद्यांश लुप्त होकर वे केवल गद्यमय रह गये। यूरोप में पहले ग्रीस के यूरीपिडीज आदि नाट्यकार पद्यमय नाटक लिखते थे। अंग्रेज़ी के शेक्सपियर के समय वे गद्य-पद्यमय हो गये और इब्सन तथा बर्नार्ड शॉ तक आते-आते वे केवल गद्यमय रह गये। संस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी में भी राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर जयशंकर प्रसाद तक यही परम्परा दृष्टिगोचर होती रही।

विस्तार संकोच—अन्य साहित्यों के समान हिन्दी में भी काव्यों से गद्य-पद्यमय नाटकों और फिर केवल गद्यमय उपन्यासों की परम्परा साहित्य में गद्य की प्रधानता स्थापित करती आई है और शास्त्रीय व उपयोगी साहित्य के लिए सारे संसार में गद्य की उपयोगिता स्वीकार कर ली गई है। लोग भी कहने लगे हैं कि कविता का कल्पनात्मक युग चला गया; और गद्य का ठोस युग आ गया है। सच तो यह है कि विस्तार का युग चला गया और संकोच का युग आ गया है। इसी कारण नाटकों के स्थान पर एकांकी, काव्यों के स्थान पर मुक्तक और उपन्यासों की जगह पर लघु कथाओं का अधिक प्रचार है।

आनन्दवाद—भारतीय आचार्यों ने आनन्द प्रदान करना साहित्य का मुख्य उद्देश्य माना है, ब्रह्म को रस रूप मानकर उसी की अभिव्यक्ति विश्व रूप में मानी गई है। विश्व-सृजन के आनन्द के समान ही काव्य-सृजन का आनन्द है। यदि ब्रह्मा अथवा प्रजापति जगत्-सृष्टा है तो कवि अपने काव्य-जगत् का अपनी इच्छानुसार सृजन करता है।¹

यह सृजन-कार्य बिना आनन्द की भावना के नहीं हो सकता। आनन्द

१. विशाले काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।

यदस्मै रोचते विश्वं तत् तथैव प्रवर्तते ॥ —ध्वन्यालोक

ही के द्वारा सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।^१

इसी प्रकार काव्य-सृजन भी आनन्द ही के द्वारा सम्भव है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने काव्य की उत्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

“भरेउ हृदय आनन्द उछाहू ।
उमँगैउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ॥
चली उमँगि कविता सरिता-सी ।
राम विमल जस जल भरिता-सी ॥”

आनन्द भाव माननेवालों के भी दो प्रकार के मत हैं । एक तो साहित्य को केवल स्वान्तः सुखाय मानते हैं और दूसरे सर्वान्तः सुखाय या बहुजन सुखाय । यथार्थ में स्वान्तः सुख ही अंत में सर्वान्तः सुख में या बहुजन सुख में परिणत हो जाता है । बहुजन सुख ही यथार्थ में बहुजन हित है । अतः भगवान् बुद्ध की भाषा में ‘बहुजन सुखाय बहुजन हिताय’ ही धर्म के समान साहित्य का भी उद्देश्य है ।

बौद्धिक आनन्दवाद—साहित्य में कुछ लोग बुद्धिवादी हैं और कुछ भावनावादी । बुद्धिवादियों की दृष्टि में सभी साहित्यिक मूल्यों का स्रोत विवेक है । इसके विपरीत दूसरों का कहना है कि बुद्धि-विवेक तो शास्त्र का विषय है । साहित्य का तो केवल भावना से सम्बन्ध है । अतः वही साहित्य का प्रेरक है । बुद्धिवादी तो सौन्दर्य को भी बुद्धि का ही व्यापार मानते हैं । किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में हम देखते हैं कि बुद्धि से विचारने से पहले ही हमें सौन्दर्य प्रभावित कर देता है । असल में संतुलन ही सौन्दर्य है और इस संतुलन की परख करने में मस्तिष्क को जोर नहीं देना पड़ता । श्री हजारीप्रसाद वेदी ने दोनों मतों का सुन्दर समन्वय किया है—‘काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो उपज हैं । वे परस्पर विच्छिन्न या परस्पर विरुद्ध नहीं हैं ।’

शिव और सुन्दर—दूसरा प्रश्न यह है कि सुन्दर और शिव का क्या

सम्बन्ध है ? पाश्चात्य विचारक अरस्तू तो मानते हैं कि जो सुन्दर है वही शिव है। बिना सुन्दर के शिव रह ही नहीं सकता। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि सौन्दर्य ही शिव है। सुन्दर इसलिए रमणीय है कि वह शिव है। वह मधुर और मनोहर के साथ मंगलकारी भी है—

“The beautiful is that good which is pleasant because it is good.”

सत्य और शिव—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

“हमारे प्रतीयमान विरोधों का सामंजस्य एक ही बात से होगा, मनुष्य का हित। हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एकमात्र यही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख कराना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। सत्य वह नहीं जो हम मुख से बोलते हैं। सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है।”

इस प्रकार उच्च सौन्दर्य, सत्य और शिव एक जगह मिल जाते हैं, किन्तु सौन्दर्य को केवल बाह्य वस्तु में माननेवालों में यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है।

नैतिकता और सौन्दर्य—इसी के साथ यह भी प्रश्न उठता है कि नैतिकता और सौन्दर्य में क्या सम्बन्ध है ? नैतिकता वही है जो शिव-कल्याण का कारण हो। यदि सौन्दर्य शिव से संयुक्त हो तो वह अवश्य ही नैतिक होगा। इस तत्व को माननेवाले काव्य में भी नैतिकता का आग्रह करते हैं। किन्तु शुद्ध सौन्दर्यवादी साहित्य में नैतिकता की कसौटी को नहीं मानते। कहना पड़ेगा कि वे बाह्य सौन्दर्यवादी हैं; आन्तरिक सौन्दर्य की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं है। उनके मत में साहित्य में केवल सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए; शिव तत्व पर विचार करना केवल धर्म या शास्त्र का काम है। साहित्यकार का क्षेत्र तो केवल सौन्दर्य-दर्शन तथा उसी की अभिव्यक्ति करना है और पाठक या दर्शक का काम उसी का आनन्द उठाना है।

उपयोगितावाद—साहित्य को आनन्द और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

माननेवालों में अंग्रेजी कवि शेली मुख्य हैं। साहित्य में उपयोगिता का प्रतिपादन करनेवालों में प्लेटो, अरस्तू तथा ऐरीस्टास्थनीज आदि ग्रीक विचारक प्रमुख हैं। मध्ययुग में स्टीफन, गोसेन तथा स्पेंसर ने इसी मत का समर्थन किया। इसके बाद रोमान्टिक युग में पीकाक तथा शेली ने और आधुनिक युग में मैथ्यू अरनाल्ड, टाल्स्टाय तथा बर्नार्ड शॉ आदि ने इस मत को स्वीकार किया कि साहित्य मुख्यतः प्रयोजनात्मक ही है।

इससे भी आगे बढ़कर कुछ विद्वानों का मत है कि साहित्य का उपयोग केवल प्रचारात्मक है। इस मत के प्रचारक तानाशाही विचारधारा के डीगो रीवरा और फ्लेखनाव आदि रूसी विचारक हैं।

अरस्तू ने साहित्य को यथार्थवादी रूप में प्रस्तुत किया था। उसे जीवन की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति ही माना था। टाल्स्टाय ने साहित्य में नीति को प्रधान मानकर उसके आचरणात्मक प्रभाव पर जोर दिया। आधुनिक लेखक समरसेट मारम ने सौंदर्य ही को कला का मुख्य मूल्य माना है।

सौंदर्यवाद—साहित्य की उपयोगिता के विपरीत एक दूसरा मत है जो कि कला को केवल कला के लिए (आर्ट फार आर्ट्स सेक) के सिद्धान्त में विश्वास करता है। इसके समर्थकों में विकटर कर्जन तथा विकटर ह्यूगो प्रधान हैं। आधुनिक युग में फ्रांस के गार्त रेनान, फ्लोवर्त्त और बादलेयर आदि ने इसका समर्थन किया और इंग्लैंड में मिवनबर्न इसके प्रवर्तक हुए। इस मत के सम्बन्ध में विद्वानों का आक्षेप है कि इसने कला के आवरण में अनैतिकता और अनाचार का प्रचार किया है। इस सम्बन्ध में मराठी साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री फड़के और श्री खांडेकर में बड़ा मनोरंजक वाद-विवाद चल चुका है। श्री फड़के 'कला के लिए कला' के समर्थक थे और श्री खांडेकर 'जीवन के लिए कला' के पक्षपाती थे।¹

नये विचारकों में लागिनस तथा क्रोचे मुख्य हैं जिन्होंने क्रमशः आत्मा

१. कला आणि जीवन: नीति आणि कलोपासना। (लेखक—ग० व० कवीश्वर)

की प्रतिध्वनि और अभिव्यंजना के रूप में काव्य की नई व्याख्या की है।

परिवर्तन—असल में समाज और साहित्य में बड़ा घना सम्बन्ध है। समाज के जीवन में परिवर्तन होने के साथ साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है और उनके अनुसार साहित्य के मूल्य भी बदलते रहते हैं। इसी के अनुसार ग्रीस के आलोचकों, संस्कृत साहित्य के भीमांसकों, मध्यकाल के रसवादियों और उसके बाद रीतिवादियों के साहित्य सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मतों का विकास हमें दृष्टिगोचर होता है।

मध्य के बाद आधुनिक युग में जीवन के मूल्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और इसके साथ साहित्य और उसकी आलोचना में भी परिवर्तन हुए। अन्य विषयों के समान वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार होने लगा। फ्रायड की मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं से प्रेरित होकर जीवन और साहित्य दोनों को कामवासना तथा अहंमूलक प्रवृत्तियों पर आधारित माना जाने लगन। विशेषकर यूरोप में पुनर्जीकरण के बाद वैज्ञानिक भौतिकवाद और यान्त्रिक सभ्यता का विस्तार होने लगा। उसके फलस्वरूप धार्मिक, सामाजिक, नैतिक परम्पराओं और आदर्शों में आमूल परिवर्तन होने लगा। इसका प्रभाव साहित्य पर बिना पड़े नहीं रह सका और वह भी अन्तर्द्वन्द्व स्पर्धा और संघर्षमय हो उठा। उसी समय मार्क्स और एंजल्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव समाज पर छा गया। जनसाधारण के प्रति सहानुभूतिपूर्ण मानववाद, प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों और नवीन सभ्यता के बदलते हुए मानदण्डों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा।

प्रगतिवाद और प्रतीकवाद—मार्क्सवादी विचारों के आधार पर साहित्य में प्रगतिवाद चल पड़ा और यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। २०वीं सदी में फिर से इन मूल्यों में परिवर्तन हुआ और नई प्रतीकवादी विचारधारा चल पड़ी। फ्रांस ने इस क्षेत्र में नेतृत्व किया और वादलेयर ने रोमांटिक तथा प्रतीकवादियों के बीच एक मध्यम मार्ग निकाला। ब्रुअरलेन रेम्बों तथा मेलामें आदि प्रतीकवादियों ने साहित्य को शुद्ध अनुभूति कल्पना और विचार में केन्द्रित किया। प्रतीकवाद ने व्यक्तिवाद तथा पलायनवाद की मनोवृत्ति को व्यक्त किया।

प्रतीकवाद के उक्त तीनों उन्नायकों में थोड़ा-थोड़ा मतभेद होते हुए भी मुख्य विचारधारा व्यक्तिवादी तथा पलायनवादी ही है।

यथार्थवादी—जोला ने दूसरी ओर यथार्थवादी दृष्टिकोण को सामने रखा। जारा तथा फिलिप सुपोल ने सामाजिक विश्वासों को जड़ से ध्वंस करने का बीड़ा उठाया तथा आन्द्रे ब्रतां और आन्द्रे जींद ने इससे भी आगे बढ़कर अति-यथार्थवाद का प्रतिपादन किया जिसमें सभी विश्वासों और आस्थाओं के प्रति घृणा प्रगट की गई। सार्त्र ने अस्तित्ववाद की स्थापना की तथा इलियट और इजारा ने निवैयक्तिकवाद का प्रचार किया। इनके अनुसार साहित्य भी जीवन की तरह अनिश्चित, अस्पष्ट और उलझा हुआ है।

इन वादों के विपरीत एक बार फिर यूरोप में विचार-क्रान्ति हुई और अविश्वास, उद्देश्यहीनता तथा अस्पष्टता की प्रतिक्रियास्वरूप धार्मिक विश्वास का पुनर्जागरण हुआ। निकोलस वदेयिव, मार्टिन बूवर तथा लुई मेमफोर्ड ने फिर से धार्मिक विश्वास के आधार पर सांस्कृतिक और कलात्मक मूल्य निर्धारित किये तथा नवीन स्वतन्त्रता की स्थापना की। इसी के उत्तर में शायद कार्ल मनहम और हेराल्ड लेस्की ने मार्क्सवाद की नवीन व्याख्या करना शुरू किया। फलस्वरूप दोनों के संतुलन से सौंदर्यवाद और उपयोगितावाद तथा व्यक्तिवाद और समाजवाद में समन्वय स्थापित हो रहा है।

कला और कलाकार—पश्चिम में इस मत का जोरों से प्रचार हुआ कि कला-कृति और कलाकार में कोई भेद नहीं है। कलाकार अपनी कृति में कला को मूर्तिमान करता है इसलिए कलाकार के व्यक्तित्व से ही हम उसकी कला का परीक्षण कर सकते हैं। इस मत के प्रचारक महान् इतिहासकार टेन हैं जिन्होंने कि जाति, युग और प्रभाव के रूप में उसका विवेचन किया है। बाद के विचारकों ने इस सिद्धान्त को अपूर्ण मानकर इसकी काफी आलोचना की है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का परीक्षण करें तो कोई भी कला-कृति किसी भी विशेष जाति, युग के लिए ही उपयोगी हो सकती है और यदि हम उसका केवल तात्कालिक प्रभाव मानें तो कोई भी

कला-कृति या साहित्य सब काल और सब देशों के लिए उपयोगी या आनन्द-दायक नहीं हो सकता ।

तुलनात्मक प्रणाली—साहित्य के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि साहित्य की परीक्षा तुलनात्मक प्रणाली से होनी चाहिए । इस सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक साहित्य की कसौटी प्राचीन साहित्य या कला-कृतियों की तुलना ही है । इसके प्रतिपादकों में मैथ्यू अरनल्ड मुख्य हैं । प्राचीन साहित्य-कारों ने अपनी कृतियों की तुलना में जिस शैली, रस-विवेचन या रीति का आधार लिया है उसी की तुलना में नवीन साहित्य को परखा जाता है । जहाँ तक रसानुभूति का सम्बन्ध है वह प्रत्येक काल में एक-सी हो सकती है, किन्तु उस अनुभूति के साधन और उसकी अभिव्यक्ति की शैली प्रत्येक काल में एक-सी नहीं हो सकती । यही इस दृष्टिकोण में मुख्य दोष है ।

सौंदर्यानुभूति—आधुनिक काल में एक और सिद्धान्त यह है कि जिस कलाकार ने तीव्रतम सौंदर्य की अनुभूति की हो वही सबसे अधिक सफल लेखक या कवि हो सकता है और उसी का काव्य सबसे अधिक उपादेय है । किन्तु यह सौंदर्यानुभूति यदि केवल साहित्यकार में हुई तो उसका उपयोग श्रोता या दर्शक नहीं कर सकेगा । इसलिए यह आवश्यक है कि उसकी अनुभूति दर्शक या श्रोता ही को हो । जिस प्रकार रसानुभूति के लिए श्रोता या दर्शक तथा पात्र या अभिनेता में भावात्मक एकता की आवश्यकता बतलाई गई है उसी प्रकार सौंदर्यानुभूति में भी यह आवश्यक है कि लेखक या कवि अपनी अनुभूति पाठक या दर्शक तक पहुँचा सके । पश्चिम में इस सम्प्रदाय के प्रचारक एवर क्रोम्बी तथा रिचर्ड्स माने जाते हैं ।

रुचिवाद—पश्चिम में एक और समीक्षा-सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा है कि जिस कला-कृति को बार-बार पढ़ने या सुनने से अरुचि होने के बदले रुचि बढ़ती ही जावे उसे ही श्रेष्ठ कृति समझना चाहिए । इसका प्रतिपादन लोज़ाइनस ने किया है । यह सिद्धान्त भारतीय रस सिद्धान्त से मिलता-जुलता है । रसवादी भी मानते हैं कि जिसकी बार-बार चर्चणा करने से आनन्द की अनुभूति हो वही रस है । रमणीयता का सिद्धान्त भी काव्य में

प्रतिपादित किया गया है और रमणीयता की व्याख्या भी यही है कि जो क्षण-क्षण में नवीनता उत्पन्न करे वही रमणीय है :—

“क्षणं क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः”—श्री हर्ष

प्रभाववादी प्रणाली—आलोचना की एक दूसरी प्रणाली प्रभाववादी (Impressionist) कहलाती है । जिसके अनुसार किसी कला-कृति के केवल एक अंश से प्रभावित होकर उसे श्रेष्ठ समझा जाता है । इसमें यह दोष आ सकता है कि एक अंश के द्वारा सम्पूर्ण की परीक्षा नहीं हो सकती । किन्तु साथ ही यह बात भी सत्य है कि कोई भी कलाकृति सभी अंशों में सम्पूर्ण और सुन्दर नहीं हो सकती । इसलिए उसके मुख्य-मुख्य अंश यदि उत्तम हैं तो वह उत्तम मान ली जा सकती है ।

कलाकृति के सम्बन्ध में एक अन्य सिद्धान्त है जो यह मानता है कि वही कलाकृति सर्वश्रेष्ठ है जिसकी अपील विश्वव्यापी हो, जो प्रत्येक युग, प्रत्येक काल और प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्रभावित और आकर्षित करे । समीक्षा को सब कसौटियों में यह कसौटी सर्वसम्मत हो सकती है । चाहे हम साहित्य को आनन्दप्रधान या सौंदर्यप्रधान मानें, चाहे उसे स्वान्तः सुखाय अथवा लोक हिताय मानें, चाहे उसे रसात्मक या रमणीय समझें, चाहे उसे सत्य और नैतिकता का प्रतिपादक मानें अथवा सुन्दर और शिव का समर्थक मानें, किन्तु जब तक वह सर्वकाल सर्वदेश-या व्यक्तियों को एक ही समान रमणीय, रसात्मक या सुन्दर नहीं जान पड़ता तब तक यह कहना पड़ेगा कि उसमें कोई-न-कोई अपूर्णता अवश्य है ।

कालिदास, शेक्सपियर या तुलसीदास के काव्यों में सब देशों, सब कालों और सब व्यक्तियों को एक समान प्रभावित करने ही के कारण उन्हें सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों में स्थान दिया जाता है ।

द्वितीय अध्याय

भारतीय आलोचना-शास्त्र

आलोचना का प्रयोग साहित्य समालोचना के अर्थ में होने लगा है। अंग्रेजी में इसे Literary Criticism कहते हैं। क्रिटिसिज्म शब्द ग्रीक के Criticose से निकला है जिसका अर्थ विवेचना या निर्णय करना है। पश्चिम में सब से पहले ग्रीस ही में इसका उदय हुआ था। भारतवर्ष में पहले ही इसका प्रचार था, किन्तु कुछ दूसरे रूप में। आलोचना का प्रारम्भ ग्रन्थ-रचना के साथ ही मानना चाहिए। जैसे ही मौखिक कथाओं, गीतों अथवा नृत्यों द्वारा मनुष्य ने आत्म-प्रकाशन की चेष्टा की, उसी के साथ श्रोताओं ने उसके गुण-दोषों की चर्चा भी आरम्भ कर दी होगी, यद्यपि शास्त्र के रूप में यह बहुत बाद में आयी। जब काव्य और नाटक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये तभी काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र सरीखे ग्रन्थों का निर्माण संभव हो सकता है। आलोचना शास्त्र की रचना के पूर्व आलोच्य काव्य नाटकों का विकास गृहीत है।

अलंकार-शास्त्र—आलोचना के लिए समीक्षा और मीमांसा का प्रयोग हमें प्राचीनकाल में मिलता है। काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने साहित्य विद्या को पाँचवीं विद्या कहा है। इन ग्रन्थों में मुख्यतः काव्य के गुण-दोषों का ही विवेचन हुआ है। काव्य रीतियों में वैदर्भी और पांचाली को प्रधान माना है। इनमें भी वैदर्भी रीति ब्राह्म मानी है।

इस प्रकार वस्तु और रीति में से वामन की दृष्टि में रीति ही प्रधान है। वस्तु रीति के आश्रित है किन्तु वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व भी आवश्यक है। (१) उनके मत में शब्द और अर्थ को समान महत्व है। (२) शब्द के लिए दोष असह्य है अतः उनका बहिष्कार प्रथम आवश्यक है। (३) गुण काव्य का

नित्य धर्म है अतः अनिवार्य है। (४) अलंकार भी काव्य का नित्य धर्म है। वह बाह्यनीय अवश्य है पर अनिवार्य नहीं।

किन्तु दोष के अभाव को काव्य का लक्षण मानना ठीक नहीं जान पड़ता। दोष रहने पर काव्य में हीनता आ सकती है पर काव्यत्व नहीं भिन्न सकता। इसमें अलंकार आवश्यक हो सकते हैं पर अनिवार्य नहीं माने जा सकते। भामह का काव्य-लक्षण अधिक उपयुक्त है। शब्द और अर्थ का सामंजस्य होना काव्य के लिए अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद इससे मिलता-जुलता है। शब्द और अर्थ का सामंजस्य काव्य की उक्ति या अभिव्यंजना की सफलता का द्योतक अवश्य है किन्तु वह काव्य का लक्षण नहीं माना जा सकता। वामन ने व्यक्तित्व की सर्वथा उपेक्षा की है। वे वस्तु-तत्त्व का निषेध भी नहीं करते, रीति को वस्तु के आश्रित भी नहीं मानते और वस्तु तथा रीति को भी महत्व नहीं देते। वे रीति या पदरचना को ही मुख्य मानते हैं, यद्यपि वे उसके गुण सम्पन्न होने पर जोर देते हैं (इसमें अर्थ-गुण और शब्द-गुण दोनों सम्मिलित हैं)। उन्होंने बिना रीति के गुण सम्पदा का उत्कर्ष नहीं माना इसलिए उन्हें रीतिवादी ही मानना होगा और उनकी स्थिति अभिव्यंजना और समन्वयवादियों दोनों के बीचोंबीच होगी। उन्हें देहवादी भी कह सकते हैं।

वस्तु और रीति के तुलनात्मक महत्व के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त मुख्यतः प्रचलित हैं—

✓ १. काव्य का मूलतत्त्व वस्तु (भाव या विचार) ही है। रीति विचार के आश्रित तथा भाव का वाहन मात्र है।

✓ २. काव्य मुख्यतः आत्माभिव्यंजक है, अपने व्यक्तित्व को प्रकाश करने का साधन है। वस्तु और रीति दोनों ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ ही हैं।

३. काव्य में केवल अभिव्यंजना या रीति ही मुख्य है। भारत में वामन तथा पश्चिम में क्रोचे आदि अभिव्यंजनावादियों का यह मत है।

✓ ४. वस्तु और रीति दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। अर्थ और शब्द दोनों समान

रूप से आवश्यक हैं। स्वदेश में भामह और विदेश में पेटर रैले आदि इस मत के आलोचक हैं।

भारतीय सम्प्रदायों में ये सम्प्रदाय मुख्य हैं—(१) रस सम्प्रदाय, (२) अलंकार सम्प्रदाय, (३) रीति सम्प्रदाय, (४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय, (५) ध्वनि सम्प्रदाय और (६) औचित्य सम्प्रदाय।

रस सम्प्रदाय के मुख्य व्याख्याता भरत मुनि हैं और उन्होंने चार मुख्य रस और चार अनुयायी रस माने हैं। शृङ्गार, वीर, वीभत्स और रौद्र मुख्य हैं, तथा करुण, भयानक, हास्य और अद्भुत गौण रस हैं। कारण यह है कि मुख्य रस हेतु स्वरूप और गौण रस फलस्वरूप हैं।

भारत में दर्शन की प्रधानता होने के कारण उक्त सम्प्रदाय भी उसके द्वारा प्रभावित है। रस सम्प्रदाय में 'रस-सूत्र' प्रमाणिक माना जाता है इसके चार व्याख्याकार हुए हैं—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त। भट्ट लोल्लट आरोपवाद के प्रवर्तक थे।^१ मीमांसा-दर्शन को मानने वाले कुछ लोग अख्यातिवाद के समर्थक थे।^२ भट्ट लोल्लट के मत का दूसरा मत उत्पातवाद है।^३ शंकुक न्याय-दर्शन के अनुयायी थे। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने रस की सिद्धि की है जो इस प्रकार है :—विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सहायता से रस की उत्पत्ति होती है; अतः विभाव कारण, अनुभाव कार्य तथा संचारी सहकारी है। विभाव रूपी कारण से रीति रूपी कार्य की सिद्धि होती है।

१. मनुष्य में राम आदि का आरोप करना आरोपवाद है।

२. किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं है और किसी काल विशेष में होनेवाली वस्तु का बोध उस काल में उसका सत्य ज्ञान है।

३. स्थायी भाव से विभाव आदि का संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव चित्त में स्थायी रहने वाली वृत्ति की उत्पत्ति के कारण रूप होते हैं। विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस को कोई हानि नहीं होती, क्योंकि निमित्त कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

शंकुक ने अनुमिति के सिद्धान्त की स्थापना की है। इसके अनुसार भाव का अनुभव हो जाने पर ही रस का आस्वाद सम्भव है। किन्तु इस सिद्धान्त का समर्थन विद्वानों ने नहीं किया है। क्योंकि रस की प्रतीति में इस प्रकार का क्रम या कार्य कारण सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

शंकुक के अनुवर्ती भट्ट नायक ने भुक्तिवाद की स्थापना की। इसके अनुसार रस भुक्ति की तीन शक्तियाँ काम करती हैं—अविधा, भावना और भोजिक तत्व। अविधा से शब्द के अर्थ का भान होता है। भावना के द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण होता है। उसके बाद सत्व-उद्रेक होता है। उससे प्रकाश रूप आनन्द का ज्ञान होता है। उसी का रस में भोग होता है।

उक्त तीन शक्तियाँ मानने के कारण भट्ट नायक को सांख्य का अनुयायी माना जाता है, क्योंकि उसमें भी त्रिगुणात्मक प्रकृति का वर्णन है।

रस सम्प्रदाय के चौथे अनुयायी अभिनव गुप्त थे। उन्होंने शैव दर्शन के आधार पर रस सूत्र की व्याख्या की है। उनके अनुसार रसानुभूति की दशा विमर्श दशा है। शिव दर्शन में इसे चमत्कार भी कहा है। रस का अर्थ है स्वतन्त्र इच्छा। शिव की इच्छानुसार ही जगत् की अभिव्यक्ति हुई है। स्वतन्त्र होने के कारण इसे निर्विकल्प दशा भी कहा है। इसी को विघ्न विनिर्मुक्त सांवित्ति' भी कहते हैं।

तृतीय अध्याय

काव्य का स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा

काव्य का महत्त्व

कविता का महत्त्व हमारे शास्त्रों में काफी बताया गया है। अग्निपुराण में कहा है—

“नरत्वं दुर्लभे लोक विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥”

विष्णुपुराण में तो काव्य को विष्णु की शब्द-पूर्ति और अंश माना है—

“काव्यालापाश्चये केचिद्गीतिकाव्याखिलानि च ।

शब्दमूर्तिधरास्यैते विष्णोरंशाः महात्मनः ॥”

मुनि और कवि—वेदों और उपनिषदों में ईश्वर को अन्य संबोधनों के साथ ‘कवि’ भी कहा गया है—

“कविर्मनीषीः परिभू, स्वयं भूः”—शु. यजु. ४०-८

मननशील व्यक्ति ही को मुनि कहा गया है। किन्तु केवल मननशीलता ही कवि के लिए पर्याप्त नहीं है। उसे अपने चिन्तन को प्रकाशन भी कर सकना चाहिए। जो मुनि अपने चिन्तन को सुन्दर शब्दों में प्रकाशित करता है वह कवि कहलाता है।

आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में—“जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।” —

तुलीदास ने अपने को कवि के गौरवपूर्ण नाम से उल्लेख किया है—

“संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी ।

रामचरितमानस कवि तुलसी ”

इससे यह तो स्पष्ट होता है कि कवि के लिए मति, चतुरता तथा वर्णन-शक्ति तीनों की आवश्यकता पड़ती है।

काव्य—कवि की कृति ही काव्य है। कविता में विषय और शब्द दो बातें मुख्य होती हैं। उन्हीं पर से यह विवाद चल पड़ा कि कविता में विषय मुख्य है या शब्द। सब से पहले हमें अग्निपुराण में काव्य की व्याख्या मिलती है। उसमें कहा गया है कि संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रगट करनेवाली जो पदावली है वह काव्य है:—

“संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्।”

महाकवि दण्डी ने इसी वाक्य को कुछ बदलकर इस प्रकार कहा है—

“शरीर तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली।” —काव्यादर्श
ध्वन्यालोककार ने तो कवि को प्रजापति का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया है। वह भी अपने काव्य-जगत् की रचना करने के कारण प्रजापति से किसी प्रकार कम नहीं:—

“अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।”

प्रगट है कि अब तक वाक्य या पद ही को काव्य माना जाता था पर रुपट ने एक नया मत सामने रक्खा।

वह यह कि शब्द नहीं, शब्द का अर्थ ही काव्य है—

“ननु शब्दार्था काव्यम्।” —काव्यालंकार सारसंग्रह

ध्वनिकार ने भी कहा—

“अर्थ सहृदय श्लाघ्यः काव्यात्मा या व्यवस्थितः।

तथा “काव्यस्मात्मा स एवार्थ यथा चारिकवेः पुरा।”

उसके पश्चात् वामन ने कहा कि काव्य में अलंकार ही प्रधान है और सौंदर्य ही वह अलंकार है—

“काव्यं ग्राह्य अलंकारात्।

सौंदर्यं भलं कारः॥” —काव्यालंकार सूत्र

यह सौंदर्य दोषों को छोड़ने और गुणों की योजना करने से उत्पन्न होता है। तुलसीदासजी ने भी काव्य के दोषों और गुणों की चर्चा की है।

“काव्य दोष गुण विविध प्रकारा ।”

इस प्रकार गुणों और अलंकारों से संस्कृत शब्द और अर्थ ही वाक्य कहलाता है—

“अलंकारा एव काव्ये प्रधानम् ।

काव्य शब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थ योर्वर्त्तते ॥” (वामन तुलसीदास ने भी कहा है—

“आखर अर्थ अलंकृति नाना ।

छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ॥”

इस वाक्य में उस मत का उल्लेख किया है जो अलंकार (शब्दालंकार और अर्थालंकार) को ही प्रधान मानते हैं ।

गोवर्धनाचार्य ने भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहते हुए—
“शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम् ।” (ध्वन्यालोक) ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है “काव्यस्यात्मा ध्वनिः” । इस मत का उल्लेख तुलसीदासजी ने भी किया है—

“ध्वनि अवरेव कवित गुणजाती ।”

भोज ने निर्दोष गुणवान् अलंकारों से अलंकृत तथा रसान्वित काव्य की प्रशंसा की है—

“निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।”

रसान्विततत्कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विंदति ॥”

—सरस्वती कण्ठाभरण

इसमें हमको शब्द और अर्थ के साथ रस की योजना मिलती है । सम्मट ने आगे चलकर कहा कि काव्य गुणवत् और दोषरहित तो होना ही चाहिए पर यदि अलंकार उतने स्पष्ट न भी हों तो भी वह काव्य कहा जा सकता है—

“तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावबलंकृती पुनःक्वापि ।” —काव्यप्रकाश

वाग्भट्ट ने उक्त सब मतों को मिलाकर काव्य के रस, रीति, गुण और अलंकार सभी की आवश्यकता को स्वीकार किया है । पीयूषवर्ष ने इन सब में वृत्ति को और जोड़ दिया । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इस लम्बे लक्ष्य

को छोड़कर केवल रस और भाव को काव्य की जीवन-ज्योति मानकर कह कि जो इनके द्वारा चमत्कृत होना है वही काव्य है। उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है—

“वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।”

भगवान् शौद्धोदनि ने काव्य का स्वरूप लिखते हुए कहा था कि जिस वाक्य में रस आदि हों और जो सुनने में सुखद हो वही काव्य है—

“काव्यं रसादि महावाक्यं श्रुतं सुख विशेषकृत्।”

×

×

×

“सुनत सुखद समुक्त सुखद वरणत सुखद सराहि।”—तुलसी

विश्वनाथ ने रस और भाव को ही प्रधानता दी, अलंकार को नहीं। केशव मिश्र और गोविंद ठक्कुर ने मम्मट के मत को स्पष्ट करते हुए कहा कि रस और अलंकार दोनों में एक से युक्त वाक्य को भी काव्य कहा जा सकता है—यदि रस न हों तो अलंकार स्पष्ट होना ही चाहिए तभी काव्यत्व प्राप्त हो सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन को ही काव्य माना है। वे अलौकिक आनन्द-प्राप्ति को ही मुख्य मानते हैं, चाहे वह किसी प्रकार हो।

संक्षेप में, वेदों के समय किसी भी अर्थ के वर्णन को काव्य कहते थे। पुराणों के समय सुन्दर अर्थ के वर्णन को काव्य कहा गया। दण्डी का भी यही मत रहा। रुद्रट ने सुन्दर अर्थ और उसके सौन्दर्ययुक्त वर्णन को काव्य माना। वामन ने भी सौन्दर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौन्दर्यपूर्ण वर्णन को काव्य कहा है। आनन्दवर्धन ने सौन्दर्य को मूल कारण मानकर अलंकारों को महत्व नहीं दिया। मम्मट ने अलंकारों को गौण मानकर गुणों को रस का धर्म माना। साहित्यदर्पणकार ने सौन्दर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन मात्र को काव्य कहा है। केशव मिश्र और गोविंद ठक्कुर ने रस और अलंकार दोनों को महत्व दिया। पण्डितराज ने कहा कि जिस अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनन्द प्राप्त हो वह प्रत्येक अर्थ सौन्दर्य का कारण हो सकता है।

काव्य का कारण—अब प्रश्न होता है कि काव्य का कारण क्या है ?

कुछ विद्वानों के मत से काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और कुछ के मत से तीन कारण हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। केवल प्रतिभा को मानने वाले रुद्रट वामन और जगन्नाथ हैं तथा दूसरे मत के समर्थक दण्डी, मम्मट और पीयूषवर्ष हैं।

दण्डी का मत है कि स्वाभाविकी प्रतिभा निर्मल और विपुल शास्त्र श्रवण (व्युत्पत्ति) तथा अधिक अभ्यास ये ही काव्य की सम्पत्ति हैं—

“नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यं संपदः ॥” —काव्यादर्श

उनका यह भी कथन है कि यदि पूर्ण प्रतिभा नहीं है तो भी शास्त्र श्रवण तथा अभ्यास द्वारा सेवित वाणी कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है—

“न विद्यते यद्यपि पूर्वं वासना गुणानुबन्धि प्रतिभान् अद्भुतम्।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥”

रुद्रट ने एक शक्ति या प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हुए शक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—

“जिसके होने पर एकाग्र किये हुए मन में अनेक-अनेक अर्थ स्फुरित होते हैं और सरल तथा सुन्दर पद सूझ पड़ते हैं वही शक्ति है।” उन्होंने शक्ति के दो प्रकार माने हैं, सहजा और उत्पाद्या (स्वयं सिद्ध और उत्पन्न की जाने वाली)। वामन प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं—

“चित्त्वबीजं प्रतिभानम्।”

उनका कहना है कि कवित्व एक विशेष संस्कार है जिसके बिना काव्य नहीं बन पाता। “कवित्वबीजं संस्कार विशेषः।”

मम्मट का कथन है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों ही काव्य उद्भव के कारण हैं। शक्ति (प्रतिभा) लोकव्यवहार तथा शास्त्रों के विमर्श से निपुणता उत्पन्न होती है। काव्य जानने वालों से शिक्षा तथा उनका अभ्यास तीनों ही काव्य के कारण हैं। (काव्यप्रकाश)

इस प्रकार दण्डी और मम्मट के मतों में साम्य है। वामन का मत भी इसी में आ जाता है। वाग्भट्ट ने उक्त कारणों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया

है। प्रतिभा काव्य को उत्पन्न करती है, व्युत्पत्ति उसको सुशोभित बनाती है और अभ्यास उस व्युत्पत्ति को बढ़ाता है—

“प्रतिभाकारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।

भृशोत्पत्ति कृद्भ्यास इत्यादि कविसंकथा ॥”

पीयूषवर्ष ने इसे दृष्टान्त देकर समझाया है—जिस प्रकार लता का बीज उत्पादक, मिट्टी पोषक और जल वर्धक है उसी प्रकार प्रतिभा बीज, व्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास काव्य का वर्धक है।¹

पण्डितराज जगन्नाथ इसमें थोड़ा-सा अन्तर कर कहते हैं कि अन्तिम दोनों काव्य के नहीं किन्तु प्रतिभा के पोषक या वर्धक हैं। बात एक ही है।

प्रतिभा—अब प्रतिभा क्या वस्तु है यह भी विचारणीय है। रुद्रट ने शक्ति को एक प्रकार का संस्कार माना है। यही शक्ति (प्रतिभा) कविता के अनुकूल अर्थों और शब्दों की स्मृति का निमित्त है। वामन और मम्मट ने संस्कार का नाम ही शक्ति माना है।

पर यह संस्कार भी क्या है? नागेश ने देवताराधन से उत्पन्न अदृष्ट ही को शक्ति कहा है।²

किन्तु दण्डी ने प्रतिभा के सामने ‘स्वाभाविकी’ शब्द लगाकर उसके अर्थ को और भी स्पष्ट कर दिया है। अतः प्रतिभा का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि ही है न कि कोई संस्कार या अदृष्ट। जैसा कहा गया है कि नई-नई कल्पना करने वाली बुद्धि ही प्रतिभा है। अथवा पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, काव्य-रचना के शब्दों के अनुकूल और अर्थों की उपस्थिति (स्मरण) का नाम ही प्रतिभा है। नया-नया उन्मेष करनेवाली बुद्धि ही प्रतिभा है।³

१. प्रतिभैव श्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति।

हेतुर्मृदम्बुसंबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥

२. देवताराधनादि जन्यं विलक्षणादृष्टं शक्नोति,
काव्यनिर्माणाऽनयेति योगाच्छक्ति रित्युच्यते।

३. बुद्धिर्नवनोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ॥ —रस गंगाधर

काव्य की आत्मा

काव्य की आत्मा या काव्य का जीवन क्या है इसके विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के अलग-अलग मत हैं। काव्य के छः सम्प्रदायों में (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य) भी इस विषय में मतभेद है। भामह और उद्भट्ट व्यंग्य अर्थ या ध्वनि को अलंकार के अन्तर्गत मानते हैं और अलंकार ही को प्रधानता देते हैं। भामह से लेकर वामन तक आचार्यों का यही मत रहा। इसके बाद वक्रोक्ति अर्थात् उक्ति की विचित्रता ही को काव्य का जीवन माना जाने लगा। इसके बाद रस सम्प्रदाय के आचार्यों ने और विशेषकर भट्टनायक ने प्रतिपादित किया कि शब्द, अर्थ अथवा उक्ति की विचित्रता काव्य की आत्मा नहीं है किन्तु रस का आस्वादन ही उसकी आत्मा है। इसके अनन्तर आनन्दवर्धन ने कहा कि किसी पद का अभिधेय और लाक्षणिक अर्थ से भी अधिक उसकी ध्वनि अथवा व्यंजना ही मुख्य है और वही व्यंग्यार्थ काव्य का जीवन अथवा आत्मा है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। किन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मतानुसार रीति काव्य शरीर का एक प्रधान अंग है, वह काव्य की आत्मा नहीं मानी जा सकती। जेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। किन्तु औचित्य भी रस का पोषक है। अतः वह स्वयं साध्य नहीं किन्तु साधन मात्र है। भोग को भी काव्य की आत्मा माना गया है किन्तु विचार करने पर वह भी रस के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि जिस वस्तु का भी आस्वादन किया जाता है वह सब रस ही के अन्तर्गत है—

रस्यते असौ इति रसः ।

अब व्यंग्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानने वालों के मत पर विचार कीजिये। इसके सम्बन्ध में ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने लिखा है कि ध्वनि या व्यंग्य महाकवियों की वाणी में उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे अंगनाओं के अंगों में लावण्यः—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम् ।
यद्यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवांगनासु ।”

इनकी दृष्टि में यही प्रतीयमान व्यंग्य काव्य की आत्मा है—

“काव्यस्यात्मा स एवार्थः यथा चादिकवेः पुरा ।”

काव्य का उद्देश्य—पर काव्य का उद्देश्य क्या है ?

साहित्य दर्पणकार ने कहा है कि चतुर्वर्ग (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष) की प्राप्ति ही काव्य का उद्देश्य है—

“चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।”

किसी-किसी ने इसके साथ ही कलाओं में दक्षता प्राप्त करना भी उद्देश्य में शामिल कर लिया है—

“धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासुचः ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निवेषणम् ॥”

नाटक को भी त्रिवर्ग का साधक बताया है—

“त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्”

गोस्वामी तुलसीदास जी ने काव्य का उद्देश्य माना है—

“स्वान्तः सुखाय^१ तथा सर्वहिताय^२”

१. स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा । आदि और

२. कीरति भनिति भूति भलि सोई,

सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥ —रामचरित मानस

चतुर्थ अध्याय

काव्य के भेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के तीन भेद माने हैं—ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र। इनको उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है इनको ध्वन्या-लोक तथा काव्यप्रकाश दोनों में माना गया है किन्तु साहित्यदर्पणकार चित्र को काव्य नहीं मानते। पण्डितराज ने इन तीनों में एक और भेद जोड़ दिया है।

काव्य चार प्रकार का माना गया है, (१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम और (४) अधम। उत्तमोत्तम काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारपूर्ण अर्थ को व्यक्त करें अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों में व्यंग्य की प्रधानता होनी चाहिए।

जिस काव्य में व्यंग्य चमत्कारजनक तो हो किन्तु प्रधान न हो वह उत्तम काव्य कहलाता है।

उत्तमोत्तम और उत्तम दोनों ही में व्यंग्य का चमत्कार प्रगट होता है। उत्तमोत्तम काव्य में व्यंग्य की प्रधानता है और उत्तम काव्य में उसकी गौणता, यही दोनों में अन्तर है।

मध्यम काव्य वह है जिसमें वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ रहता है अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता हो।

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिए हो वह अधम काव्य कहलाता है।

इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने काव्य का पाँचवाँ भेद अधमाधम भी कल्पित किया है। जिसमें अर्थ चमत्कार से सर्वथा रहित केवल शब्द चमत्कार हो उसे उक्त श्रेणी में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ लोग तो काव्य के

चार भेद न मानकर केवल तीन ही भेद मानते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । इस पर कुछ लोगों ने एक शंका भी उपस्थित की है । जिस काव्य में अर्थ चमत्कार की प्रधानता हो उसे मध्यम और जिसमें शब्द चमत्कार की प्रधानता हो उसे अधम काव्य माना गया है । किन्तु जिस काव्य में चमत्कार और अर्थ चमत्कार दोनों ही एक समान हों उसे किस श्रेणी में रखना चाहिए ? इस पर विद्वानों ने निर्णय दिया है कि उसे भी मध्यम काव्य ही मानना चाहिए ।

अब उत्तमोत्तम काव्य के अनेक भेद माने गये हैं । ध्वनिप्रधान होने के कारण इसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं । इसके दो प्रधान भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक । अभिधामूलक के फिर तीन भेद माने गये हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि । रस-ध्वनि एवं लक्ष्य-ध्वनि क्रम-ध्वनि के अर्थ में आया है । इसका अर्थ यह है कि रस का अनुभव किसी क्रम से नहीं होता बरन् एक साथ ही होता है । जैसे एक ही बार में कमल की पंखुड़ियों का छिदना । कुछ लोगों का यह भी मत है कि रस का आस्वादन क्रमशः भी हो सकता है और उसे वे संलक्ष्य क्रम ध्वनि कहते हैं । रसध्वनि से शब्द में रसाभाव, रसाभास और भावाभास आदि सब का समावेश हो जाता है ।

लक्षणामूलक काव्य भी दो प्रकार का है—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ।

काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक । इन तीनों प्रकार के शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ । ये अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं वे अभिधा लक्षणा और व्यंजना कहलाती हैं । जिस कारण के द्वारा कार्य होता है उसे व्यापार कहते हैं । अर्थ का बोध कराने में शब्द कारण है और इस अर्थ का बोध करानेवाली अभिधा लक्षणा और व्यंजना व्यापार है । इन शक्तियों को वृत्ति भी कहते हैं ।

साक्षात् संकेत किये हुए अर्थ को बतलाने वाले शब्द को वाचक कहते हैं । वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं । साक्षात् सांकेतिक अर्थ का

बोध कराने वाली मुख्य क्रिया को अभिधा कहते हैं। और मुख्य अर्थ का बोध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं। अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं। कुछ लोग व्यंजना को छोड़ कर केवल दो शक्तियों अभिधा और लक्षणा ही को मानते हैं। किन्तु अधिकांश व्यंजना की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

यथार्थ में पद और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को अभिधा शक्ति कहते हैं। किसी भी शब्द का अर्थ समझने के लिए अभिधा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। उसके सम्बन्ध में न्यायिकों और मीमांसकों में मतभेद है। वैयाकरण और आलंकारिक मीमांसकों के मत का समर्थन कर मानते हैं कि पद और पदार्थों का सम्बन्ध ही अभिधा नामक शब्द-शक्ति है।

शब्दों के प्रयोग से केवल मुख्य के अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी निकलता है। इस प्रकार प्रत्येक पद के दो अर्थ होते हैं एक तो साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा और दूसरा परम्परा सम्बन्ध के द्वारा। पहले सम्बन्ध को अभिधा और दूसरे को लक्षणा कहते हैं। यदि किसी ने कहा कि तेरी चूड़ियाँ अमर रहें। इसके साधारण अर्थ को अभिधा कहेंगे पर असल में चूड़ियाँ अमर रहने का अर्थ तेरा सौभाग्य अक्षय रहे, इस अर्थ को लक्षणा कहेंगे।

आचार्यों ने लक्षणा के अनेक भेद और उपभेद बताये हैं जिनमें निरुद्धा और प्रयोजनवती दो भेद मुख्य हैं। कुल मिलाकर आठ भेद बताये गये हैं जिनका विवरण 'रस गंगाधर' आदि साहित्य ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति है—व्यंजना। जिसके द्वारा पद के मुख्यार्थ का बोध हो जाने पर एक तीसरा ही अर्थ निकलता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिये—“सूर्यास्त हो गया।” इस वाक्य में व्यंजना के द्वारा अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ होंगे। मजदूर समझेगा छुट्टी का समय हो गया। विद्यार्थी समझेगा पाठ बंद करने का समय हो गया और यात्री समझेगा कि गाड़ी आने का समय हो गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि व्यंजना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं। उसके भी अनेक भेद किये गये हैं। अधिकांश आचार्यों ने छः मुख्य भेद माने हैं। इनके मिश्रण इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या १० हजार के ऊपर पहुँचा दी गयी है। व्यंग्यों के दो प्रकार मुख्य माने गये हैं। एक, प्रधान रूप से ध्वनित होने वाले और दूसरे, अप्रधान रूप से। पहले प्रकार के व्यंग्य को ध्वनि और दूसरे को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इनके भी आठ भेद बतलाये गये हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ध्वनिप्रधान काव्य को ही उत्तमोत्तम काव्य माना गया है।

✓ **गुण और भाव**—प्राचीन आचार्यों ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ, व्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दस गुण माने हैं।^१ पर भामह ने केवल तीन ही गुण माने हैं।^२ आगे के आचार्यों ने सब गुणों का इन्हीं में समावेश कर दिया है। वे तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। अग्निपुराण में श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्द-गुण, माधुर्य आदि छः अर्थ-गुण और प्रसाद आदि छः उभय-गुण हैं। इस प्रकार कुल उन्नीस गुण माने हैं। दण्डी ने भरत के समान दस गुण माने हैं। वामन ने बीस, भोज देव ने चौबीस, बाणभट्ट ने दस और पीयूषवर्ष ने आठ गुण माने हैं। सब गुणों में काँट-छाँट करते हुए अन्त में मम्मट ने केवल तीन गुण ही मुख्य रखे हैं। इस प्रकार ये भामह के मत पर पहुँच गये हैं।

अब विचारणीय यह है कि गुणों का काव्य में क्या स्थान है? इस विषय में वामन और भोजदेव दोनों ही का कथन है कि काव्य स्त्री के स्वरूप के समान है जो कि अच्छे गुणों से युक्त होती है और अलंकारों का स्थान आभूषणों के समान है।^३ भोज का भी कथन है कि काव्य के गुणों और

१. नाट्यशास्त्र।

२. काव्यालंकार।

३. युवतेरिव रूप भंग काव्य स्वदत्ते शुद्ध गुण यदव्यतीक।

—वामन काव्यालंकारसूत्र

अलंकारों से युक्त होने की अपेक्षा गुणों से युक्त होना अधिक महत्वपूर्ण है ।^१ मम्मट का मत है कि गुण रसों को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्दों और अर्थों को । अतः अलंकारों की अपेक्षा गुण अधिक महत्वपूर्ण हैं ।

पर यह गुण है क्या वस्तु ? भरत के मत में दोषों के विपरीत वस्तु ही गुण है ।^२ अग्निपुराण का मत है कि जो काव्य में महती शोभा को अनुग्रहीत करता है वह शब्द गुण है,^३ जो शब्द द्वारा प्रतिपादित वस्तु को उत्कृष्ट बनाता है वह अर्थ गुण है,^४ और जो शब्द और अर्थ दोनों को उत्कृष्ट करता है वह उभय गुण है ।^५ दण्डी ने गुणों की विशिष्ट रचना को पुराण माना है^६ वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म ही गुण हैं ।^७

सारांश यह है कि काव्य में काव्यत्व लाने वाली वस्तु या काव्य की आत्मा तो रस ही है । किन्तु उन्हें उत्कृष्ट बनाने वाले धर्म गुण और उन्हें विभूषित करने वाले अलंकार हैं । इस भाव को ध्वनिकार ने बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं; रस आत्मा है, गुण शूरवीरता आदि की तरह हैं, दोष कालेपन आदि की तरह हैं और अलंकार आभूषणों की तरह हैं ।^८

१. गुणयोस्तयो मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ।

—भोज सरस्वतीकण्ठाभरण

२. गुण विपर्ययादेषाम् । —भरत नाट्यशास्त्र

३. याः काव्ये महती छायामनु ग्रहणात्यसौ गुणः । —अग्निपुराण

४. उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः । —अग्निपुराण

उत्कर्षमाबहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते ।

५. शब्दार्थ मुपकुर्वाणो नाम्नोभय गुणः स्मृतः ।

६. एते वैदभेमागस्य प्राणा दश गुणः स्मृता । —काव्यादर्श

७. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं रत्यादि इवात्मा, गुणः शौर्यादिवत् ।

८. अलंकारः कटक कुण्डलादिवत् इति ।

अब दूसरे प्रकार से विचार कीजिए कि किस रस के अनुरूप कौनसी रचना है ? विचार करने पर जान पड़ता है कि शृंगार, करुण और शांत रसों के लिए कोमल रचना और वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों के लिए कठोर रचना की तथा अन्य रसों के लिए स्पष्टार्थक रचना की आवश्यकता है। कोमल रचना से युक्त रसों से चित्त पिघलता है, कठोर रचनायुक्त रसों से चित्त उद्दीप्त होता है। अंत में हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि शृंगार, करुण और शांत रसों में जो आनन्ददायिनी शक्ति है वह माधुर्य है। वीर, रौद्र और वीभत्स रसों में जो चित्त को विकसित करने की शक्ति है वह प्रसाद है। इस प्रकार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण निस्पन्द होते हैं। ये गुण रसों के अर्थ नहीं किन्तु उनसे प्रभावित होने वाली व्युत्ति, दीप्ति और विकास रूपी चित्त वृत्तियों का ही नाम माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण है।

रस और भाव में बहुत अन्तर माना गया है। भाव की व्याख्या करते हुए किसी ने कहा है कि जो भावों और अनुभावों के अतिरिक्त रसों के व्यंजक हों। (जिन से रस अभिव्यक्त हो) उनका नाम भाव है। किन्तु इस व्याख्या में अति व्याप्ति दोष आ जाने के कारण उसे अपूर्ण समझा गया है। इसके अनुसार अर्थ भी भाव हो जायगा। क्योंकि अर्थ के द्वारा भी रस ध्वनित होता है। इसलिए दूसरी व्याख्या बनाई गई है कि जो आस्वादन रस को अभिव्यक्त करता है, उस आस्वादन में आने वाली चित्तवृत्ति का नाम भाव है। किन्तु इस लक्षण को भी दोषपूर्ण समझकर छोड़ दिया गया, और यह लक्षण स्वीकृत किया गया है कि विभाव आदिकों के द्वारा ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदिकों में से कोई एक हो तो उसे भाव कहा जाता है। संक्षेप में ध्वनित होने वाले व्यभिचारी भाव को भाव कहा जाता है।

इस प्रकार हर्ष, स्मृति आदि चौंतीस भाव माने गये हैं। गुरु, देवता राजा और पुत्र आदि के विषय में उत्पन्न होने वाला चौंतीसवाँ भाव है। इसमें भक्ति और वात्सल्य का समावेश हो जाने के कारण उन्हें अलग रस नहीं माना गया है। बहुत से लोगों का कहना है कि भावों की संख्या चौंतीस ही तक सीमित नहीं रहनी चाहिए। विचार इसके ईर्ष्या, विवेक, क्षमा,

उत्कंठा आदि अनेक भाव और भी हो सकते हैं किन्तु इस प्रकार संख्या बढ़ाने से कोई अन्त ही न होगा ।

अब रस के साथ रसाभास और भावाभास आदि पर भी विचार करना आवश्यक है । अधिकांश विद्वानों के अनुसार जहाँ रस आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों वहाँ रसाभास होता है । इस पर यह विवाद उठा कि रसाभास को रस मानना चाहिए या नहीं । कुछ लोग उसे रस मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते । रसाभास के समान ही जिनका विषय अनुचित होता है वे भाव, भावाभास कहलाते हैं ।

भाव के साथ भावशांति^१, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता आदि शब्दों का प्रयोग साहित्यशास्त्र में मिलता है । किसी भी भाव के नाश को 'भाव शांति', भाव की उत्पत्ति को 'भावोदय', दो भावों के साथ-साथ रहने को 'भावसंधि' और दो भावों के एक दूसरे को बाधित करने वाले मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं । भाव-शांति आदि के विषय में कई विवाद उठाये जाते हैं, जैसे भाव-शांति में भाव प्रधान है अथवा शांति ? इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं । उक्त चारों के समान रस-शांति, रसोदय, रस-सन्धि और रसशबलता की भी कल्पना की गई है । इनके विषय में भी यही विवाद है कि रस प्रधान है या उसकी शांति ? इस विवाद में पड़ना भी अनावश्यक है ।

पञ्चम अध्याय

रस संप्रदाय

रस के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। भरत ने कहा है—

सहृदय पुरुष जिस रति शोक आदि भावों का अनुभव करता है वे ही उसके चित्त के स्थायी धर्म हैं। क्योंकि वासना रूप से वे उसके चित्त में स्थायी रूप से रहने लगते हैं। असल में वे ही मनुष्य की भिन्न-भिन्न चित्त-वृत्तियाँ हैं।

ये भाव जिन क्रियाओं की सहायता से उत्पन्न होते हैं उन्हें विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। जिन कारणों से वे उत्पन्न होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिनसे वे उद्दीप्त होते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। सीता जी के कारण राम जी के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है अतः वे आलम्बन हैं। और जनक बाग तथा वसन्त ऋतु उद्दीपन हैं। अब इस प्रेम के कारण जो शारीरिक या आन्तरिक कार्य होते हैं जैसे पुलकावली आदि वे अनुभाव हैं। जैसे—

“अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥”

इसके बाद मन में जो सहकारी भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं। जैसे—

“सुमिरि पिता पनु मन अति छोभा।”

/ इसलिए मम्मट कहते हैं कि स्थायी भाव विभावादिकों के द्वारा व्यक्त होता है तब वह रस कहलाता है।

✓ “व्यक्तः स तैर्विभावाद्य स्थायीभावो रसः स्मृतः।”

| अभिनवगुप्त के मन में अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे मुक्त रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं।

उनके मतानुसार विभाव आदिकों के आस्वादन के प्रभाव से चित्त-वृत्ति रति आदि के सहित आत्मानन्द का अनुभव करने लगती है। यह आनन्द अलौकिक है, क्योंकि अन्य सुखों का अनुभव करते समय चित्तवृत्ति और अन्तःकरण का योग होता है किन्तु यह आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से मुक्त शुद्ध चैतन्य है। रसानुभव में सारी चित्तवृत्तियाँ ही तन्मय हो जाती हैं।

चाहे ज्ञान रूप आत्मा से प्रकाशित होने वाले रति आदि भावों को रस मानें अथवा रति आदि विषयों से होने वाले ज्ञान को रस कहें, यह निश्चित होना चाहिए कि पहले पक्ष के अनुसार चैतन्य के आवरण का दूर हो जाना अथवा दूसरे मत के अनुसार अन्तःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही रस की चर्चणा या आस्वादन कहलाता है। रस में रति और चैतन्य दोनों ही का समावेश है।

यह आस्वादन ब्रह्मानन्द से इसलिए भिन्न है कि इसका आनन्द सासारिक पदार्थों (विभाव आदि विषयों) से युक्त है और समाधि का आनन्द विषयों से रहित आत्मानन्द है।

आचार्य भट्ट नायक का मत है कि रस से भावना का सम्बन्ध न रहने पर इसका आस्वादन हो ही नहीं सकता। अतः अभिधा शक्ति (जिससे काव्य-गत् पदार्थ को समझा जाता है) के द्वारा उन पदार्थों पर भावना नामक क्रिया होती है जो कि रस की विरोधी भावना को हटा देती है। इसके बाद भोगी कृत्व नामक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है जिससे हम चैतन्य रूपी आनन्द को प्राप्त कर आनन्द पाते हैं। यह विश्राम ही रस का अनुभव है।

अन्य विद्वानों का मत है कि विभाव आदि के प्रकाशित होने पर हमें व्यंजना-वृत्ति के द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि राम सीता का प्रेम था। उसके बाद सहृदयता के द्वारा यह भावना उत्पन्न होती है कि हम स्वयं राम और सीता हैं। अथवा, साहित्यिक भाषा में, हमारी आत्मा कल्पित रामत्व के द्वारा आच्छादित हो जाती है। बस, इसी विलक्षण चित्तवृत्ति का नाम रस है।

कुछ विद्वान् समझते हैं कि व्यंजना क्रिया या अनिर्वचनीय ख्याति

मानना आवश्यक नहीं। सीता या राम के विषय में रति आदि से मुक्त व्यक्ति के साथ अभेद का कल्पित ज्ञान ही रस है। अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है जो कि हमें उक्त व्यक्ति के साथ एकरूप बना देता है।

मठ लोल्लट का मत बहुत कुछ उक्त मत के अनुसार ही है। अन्तर केवल यह है कि वे रस-भ्रम के दो रूप मानते हैं—एक राम विषयक और दूसरा राम का अभिनय करने वाले नट विषयक।

शंकुक आदि का कथन है कि राम आदि में जो रति आदि भाव हैं वे ही जब नट या पाठक में अनुमान कर लिये जाते हैं तब वे रस कहलाते हैं।

कुछ का मत है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों मिलकर ही रस कहलाते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि उक्त तीनों में जो चमत्कार होता है वही रस है।

कुछ समझते हैं कि बार-बार चिन्तन किया हुआ विभाव ही रस है।

कुछ का ख्याल है कि बार-बार चिन्तन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रस है।

दूसरे भिन्न-भिन्न विद्वानों का कथन है कि बार-बार चिन्तन किया हुआ अनुभाव ही रस है। इस प्रकार रस के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं।

रस और स्थायी भाव—रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा घृणा में स्थायी भाव तथा शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स ये नव रस माने गये हैं। शृंगार का रति, करुण का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय, वीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव माना गया है।

रसों और स्थायी भावों में केवल यही अंतर है कि जो घड़े और उसके अन्दर के आकाश में, सच्ची चाँदी और कल्पित चाँदी में है।

विषय और ज्ञान में भेद है। ये भेद स्थायी इसलिए कहलाते हैं कि वे बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभाव आदि से सम्बन्ध रखते हैं और रस

रूप बन जाते हैं। अथवा जिस भाव का स्वरूप सभी सजातीय-विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके और जब तक रस का आस्वादन हो तब तक वर्तमान रहे, उसे स्थायी भाव कहते हैं।

दोष—अब रस वर्णन के दोष-गुण दोनों ही हैं। पहला दोष तो यही माना जाता है कि रसों का वर्णन करते समय उसका नाम नहीं लेना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि रस को स्वयं प्रगट होना चाहिए। उसे बताने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए।

विरोधी रसों के समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन करना दूसरा दोष है, क्योंकि उसमें प्रस्तुत रस फीका पड़ जाता है।

टूटे हुए रस की शृंखला को फिर से जोड़ देने से 'विच्छिन्न दीपन' तीसरा दोष माना जाता है।

इसी प्रकार, प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन करना भी दोष माना गया है। अनुसन्धान, आलम्बन और आश्रय की धारा टूट जावे तो वह भी एक दोष है।

इसी प्रकार जिस विषय के वर्णन से प्रस्तुत विषय को लाभ न हो उसका वर्णन करना भी दोष है। अनुचित बातों के वर्णन से रस-भंग हो जाता है। अनुचित विषय का अर्थ है—जाति, देश, काल, तपस्या, स्थिति और व्यवहार आदि के विरुद्ध बातों का वर्णन करना। इस सम्बन्ध में आनन्द-वर्धन में लिखा है—

“अनौचित्याहते-नान्यत् रसभंगस्य करणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपनिषद् परा ॥”

—ध्वन्यालोक

(अनौचित्य के सिवाय रस भंग का दूसरा कोई कारण नहीं है, औचित्य ही रस का रहस्य है।)

रस-विवेचन—अग्निपुराण में रस-विवेचन का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—परम ब्रह्म में आनन्द स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहता है। जब यह आनन्द प्रकट होता है तब वह चैतन्य, चमत्कार या रस के नाम

से पुकारा जाता है। आनन्द का सबसे पहला विकार अहंकार माना गया है। उस अहंकार से ममता उत्पन्न होती है। उसी ममता से प्रेम, रति व अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी आदि भावों की समानता से शृंगार रस कहलाती है। वही रति गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में प्रकट होती है। राग से शृंगार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर और संकोच से वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। बाद में शृंगार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक इसकी उत्पत्ति हुई है। अनुराग के अभाव रूप निर्वेद से शान्त रस की उत्पत्ति हुई। अब प्रत्येक रस के अलग-अलग स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी भाव होते हैं। जैसे शांत रस में जगत् की अनित्यता आलवन, शास्त्र श्रवण सत्संग आदि उद्दीपन, विषयों से अरुचि आदि अनुभाव, और हर्ष आदि व्यभिचारी भाव है। इसी प्रकार अन्य रसों को भी समझाना चाहिए।

नव रस—रसों में नव रस प्रधान हैं। यद्यपि कोई-कोई आठ रस ही मानते हैं—शृङ्गार, करुण, शांत, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत, हास्य और वीभत्स। कुछ वात्सल्य को दशम रस मानते हैं। पर बहुत से उसे रस न मानकर भाव ही मानते हैं। शृङ्गार रस में संयोग और विप्रलम्भ दो भेद माने गये हैं। हास्य रस के भी अनेक भेद शास्त्रकारों ने गिनाये हैं। मुख्य दो भेद हैं—आत्मस्थ और परस्थ। भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषों के अनुसार हास्य भी अनेक प्रकार का हो जाता है। उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम में विहसित और उपहसित तथा अधम में अपहसित और अतिहसित।

भक्ति रस—भक्तगण भक्ति रस को एक अलग रस मानते हैं। साहित्यिक कहते हैं कि भक्ति तो एक भाव है, रस नहीं। किन्तु रूप गोस्वामी आदि आचार्यों ने भक्ति को अलग रस मानकर उसके पाँच भेद गिनाये हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस। शांत रस के उपासक दो प्रकार के होते हैं—एक तो आत्माराम और दूसरे साधक। शांत रस के उद्दीपन विभाव दो प्रकार के होते हैं—एक असाधारण और दूसरा साधारण। शांत रस

का स्थायी भाव शांत रति है जो कि दो प्रकार की होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा ; किसी के मत में इसका स्थायी भाव धृति है तो किसी के मत में निर्वेद ।

दास्य रस—दास्य रस और शांत रस में इतना ही अन्तर है कि दास्य में ऐश्वर्य चिन्तन प्रधान है और शांत रस में स्वरूप चिन्तन । दास्य के भी दो भेद हैं—एक प्रसंग-जनित और दूसरा गौरव-जनित । दोनों ही दास्य के स्थायी भाव हैं । दास्य भाव की तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ दास्य के उद्दीपन विभाव भी अनेकों हैं जैसे भगवत् भक्तों का संग आदि । हास्य रस के उदय के साथ अनेकों अनुभाव प्रगट होते हैं । संभ्रम, प्रीति ही इसका स्थायी भाव है । यह प्रीति क्रमशः प्रेम, स्नेह और राग में उत्तरोत्तर घनीभूत होती है । दास्य की दो अवस्थायें होती हैं, योग और अयोग । अयोग की दो अवस्थायें हैं—उत्कंठा और वियोग । योग अवस्था के तीन भेद होते हैं—सिद्धि, मृष्टि और स्थिति ।

सख्य रस—सख्य रति ही स्थायी होकर सख्य रस का रूप ग्रहण करती है । सखाओं की चार श्रेणियाँ होती हैं, सुहृद, सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्म सखा । सखा की कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थायें सुन्दरता, मधुर भाषण चेष्टायें तथा व्यवहार ही सख्य रस के आलंबन हैं । हास्य-विनोद, खेल-कूद, नृत्य-गान आदि अनुभाव हैं । रोमांच आनन्द आदि सात्विक भाव है । इस रस में भी योग और अयोग दो भेद तथा दास्य रस के समान उपभेद होते हैं । श्रीजीव गोस्वामी ने इसे प्रेयो रस तथा दास्य रस की प्रीति रस को नाम दिया है ।

वात्सल्य रस—वात्सल्य रस के आलम्बन हैं बालक रूप भगवान्, उनके गुरुजन, उनकी बालोचित क्रीड़ायें । उद्दीपन विभाव हैं—दुलार, पुचकार, चुम्बन और आलिंगन । इसके अनुभाव हैं—संयोग और मिलन के पूर्व उत्कंठा और मिलन के बाद विरह । इसके भी उपभेद अन्य रसों के समान हैं । वियोग में चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह उसी प्रकार होते हैं । वात्सल्य रस से अन्य रसों का मिश्रण भी हो जाता है । इसके

संख्य प्रमान, दास्य प्रधान तथा उभय प्रधान वात्सल्य तीन भेद किये गये हैं।

मधुर रस—मधुर रस के आलम्बन हैं—भगवान् और उनकी वल्लभायें। उनकी अवस्थायें, लीलायें, वाणी, चेष्टायें आदि उद्दीपन हैं और मधुर रति आदि स्थायी भाव हैं। अनुभाव तीन प्रकार के हैं—अलंकार, उद्भास्वर और वाचिक। अलंकार के दस स्वाभाविक, सात अप्रयास तथा तीन शारीरिक, इस प्रकार कुल २० भेद हैं। आलाप-विलाप आदि बारह प्रकार के वाचिक अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, कम्प, विवर्णता, अश्रुपात और प्रलय—ये आठ सात्विक भाव उदय होते हैं। ये भी अपने अभिव्यक्ति के अनुसार घूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त पाँच प्रकार से प्रगट होते हैं। निर्वेद आदि बीसों भाव इसमें अभिव्यक्त होते हैं। मधुर रति के आविर्भाव के सात कारण हैं—अधियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, विशेषता, उपमा और स्वभाव। मधुर रति क्रमशः विकसित और उत्कृष्टित होते-होते प्रेम, स्नेह, प्रलय, अनुराग और भाव के रूप में परिणत हो जाती है। प्रेम के तीन भेद हैं—प्रौढ़, मध्य और मन्द। स्नेह दो प्रकार का है, उदात्त और ललित। प्रणय भी दो प्रकार का है, मैत्र और सख्य। राग के भी दो प्रकार हैं—नीली राग और श्यामा राग। भाव के दो भेद हैं—रूढ़ महाभाव और अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभाव के दो भेद हो जाते हैं—मोदन और मादन। मोदन दशावाद में दिव्योन्माद का रूप धारण धर लेती है।

मधुर रस में अन्य रसों के समान संयोग और वियोग भेद होते हैं। वियोग की चार अवस्थाएँ हैं पूर्व राग, मान, प्रेम-वैचित्र्य और प्रवास। संयोग के दो भेद होते हैं—स्वप्न और जागृत। जागृत के चार भेद होते हैं—संक्षिप्त, संकीर्ण सम्पन्न और समृद्धिमान्।

मधुर रस को उज्ज्वल रस और दिव्य शृङ्गार भी कहा गया है। भक्ति ग्रन्थों में रस का विशद वर्णन है। विस्तार-भय से यहाँ व्याख्याएँ नहीं दी जा सकती हैं।

शृङ्गारियों ने जब कि नायिका-भेद वर्णन के द्वारा शृङ्गार रस को कलुषित कर दिया था तब भक्ति रसवादियों ने उसे भगवान् से सम्बन्धित कर उसका

उन्नयन और शुद्धिकरण कर उसे महाभाव तक पहुँचा दिया यह उनकी बड़ी भारी देन है ।^१

कुछ लोगों के मतानुसार रसशास्त्र पुराना हो चुका है । अतः उसका त्याग कर देना चाहिए । इसके विरुद्ध संस्कृत साहित्य के समर्थक कहते हैं कि प्राचीन रसशास्त्र में कुछ सुधार कर उसे कायम रखना चाहिए । दोनों के समन्वय करने के इच्छुक प्राचीन रसशास्त्र में आधुनिक मनोविज्ञान का पुट देकर फिर से सिद्ध करना चाहते हैं ।

डा० म० गो० देशमुख ने प्रस्ताव किया है कि रस के बदले भाव-गंध शब्द का प्रयोग होना चाहिए । उन्होंने भामह को भरतमुनि का उत्तराधिकारी बतलाया है—भरतमुनि ने रस को क्रिया-कल्प कहा है । भामह के समय तक इसे अलंकार कहते थे । संस्कृत आलोचनाशास्त्र के क्रम-विकास आदि का दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने बताया है कि भामह के बाद उद्भट ने साहित्य के बीच चलने वाले विवाद में काव्य के अंतर्गत लक्षणों की व्याख्या की है । वामन के समय अलंकारवाद की प्रधानता थी, अतः उन्होंने रीति के अन्तर्गत गुणों का विवेचन किया । इन गुणों को उसने धर्म कहा है । भरत ने जिसे लक्षण माना उसी को भामह ने अलंकार कहा । दण्डी ने दोनों का मिश्रण किया । दण्डी ने जिसे मार्ग माना उसी को वामन ने रीति कहा और पैशाची, गौड़ी वा विदर्भी रीति के बदले मुकुमार, विचित्र और मध्य मार्ग आदि नाम दिये रहता है । रस और शब्दार्थ को एक करने की क्रिया में ही यह अलंकार-शास्त्र साहित्यशास्त्र बन गया है ।

शब्द और अर्थ का साहचर्य ही साहित्य है । यह साहचर्य अलंकार और रस दोनों से होता है । काव्य के शब्दों में रस ही अर्थ है । आनन्दवर्धन

१. विस्तार के लिए दृष्टव्य—

१. श्री भक्ति रसामृत सिन्धु ।
२. उज्ज्वल नीलमणि ।
३. चैतन्य चरितामृत ।
४. भक्तिरस की पाँच धाराएँ (स्वामी अखण्डानन्द) ।

इस अर्थ को रस का व्यंग या ध्वनि मानते हैं। उसके अनुसार रस के अनुरूप ही गुणालंकार कहते हैं। इस प्रकार उसने साहित्यशास्त्र को पुनः संगठित किया।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन किया। अभिनवगुप्त ने रस को चर्चणा या आनन्द रूप माना। रस की उत्पत्ति विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी से होती है। इसका अर्थ है कि कवि, काव्य या नाटककार की मात्रा तथा रसिक (दर्शक या श्रोता) के स्थायी भाव से नहीं किन्तु कलाकृति के दर्शन या श्रवण से रसिक की तदाकार वृत्ति से होता है। इसीलिए उसे जन्म मिलता है। अस्तु साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम श्री देशपांडे ने इस प्रकार माना है—(१) भरत का समय क्रिया-कला, (२) भरत से भामह तक काव्य-लक्षण, (३) भामह दण्डी से रुद्रट तक साहित्यशास्त्र, तथा (४) रुद्रट से जगन्नाथ तक साहित्य-प्रणाली का समय।

श्री देशपांडे का मत विचारणीय है।

षष्ठ अध्याय

हिन्दी के साहित्य-संप्रदाय

संस्कृत साहित्यशास्त्र के आधार पर अन्य भारतीय साहित्यों में भी साहित्य-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे गये। उन प्राचीन संप्रदायों में से रस, ध्वनि, अलंकार-रीति संप्रदायों का ही अधिक विवेचन किया गया है। हिन्दी में रस, अलंकार और ध्वनि की ही चर्चा मिलती है। वक्रोक्ति, रीति और औचित्य के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं मिलती। अधिकतर हिन्दी कवियों ने अपने काव्यों के बीच में ही इनकी चर्चा की है। शुद्ध साहित्यिक रूप से विवेचन करने वाले कम ही आचार्य मिलते हैं।

उन सब में आचार्य केशवदास सबसे प्रमुख हैं। वे मुख्यतः अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक हैं। 'कविप्रिया' में उन्होंने लिखा है—

“यद्यपि जात सुलक्ष्णी सुवरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥”

इसमें गुण (सुलक्षण) वर्ण (सुवरन) रस (सरस) और छंद (सुवृत्त) आदि सबकी अपेक्षा अलंकार (भूषण) को ही प्रधानता दी गई है। अलंकार से उनको इतना अधिक प्रेम था कि उन्होंने साधारण वर्णनों को भी सामान्यालंकार के अन्तर्गत मान लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अलंकारों में भी अनेक वर्गों और भेदों की कल्पना की है। उदाहरण के लिए हेतु के दो भेद कर दिये हैं—अभाव और सभाव। और आक्षेप के नौ भेद कर दिये हैं। इसके अतिरिक्त मालादीपक गणना आदि अनेक नये अलंकारों की कल्पना की है।

केशव के बाद आचार्य देव आते हैं। उन्होंने रस और ध्वनि को महत्व दिया है और उसके समर्थन में यहाँ तक कह दिया है कि—

“सरस वाक्यपद अर्थ तर्हि, शब्द चित्र समुहात ।
दधि घट मधु पायस तजत वायस चाप चबात ॥”

देव के बाद, भतिराम, भूपण, रसिक, सुमति, दूल्हा और वैरीसाल तथा पद्माकर ने अपने ग्रन्थों में अलंकारशास्त्रों का विवेचन किया है।

अलंकार के बाद हिन्दी में रस-सम्प्रदाय का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु वह भी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत है। हिन्दी के कवियों ने रस वर्णन करते हुए भी ध्वनि को छोड़ ही दिया है। रसवादी कवियों में सुन्दर, तोप, चिन्तामणि, भतिराम, देव, दास तथा जसवंतसिंह मुख्य हैं। इन कवियों में रस तत्व का साधारण वर्णन करके शृंगार-रस ही का विशेष वर्णन किया है और उसमें भी नायिका-भेद को प्रधानता दी है। इन कवियों में से देव में सबसे अधिक मौलिकता पायी जाती है। उन्होंने नव रसों में तीन ही प्रधान रस माने हैं—शृंगार, वीर और शांत। शृंगार को इन्होंने इन सबसे शिरोमणि मानकर बाकी दो को उसी के अधीन माना है—

“तीन मुख्य नव हूँ रसनि, द्वै द्वै प्रथम विलीन।

प्रथम मुख्य तिन तीन हूँ, दोऊ तेहि आधीन ॥”

देव का नायिका-भेद भी अधिक वैज्ञानिक और मौलिक है। जबकि केशव ने भाव के पाँच भेद माने हैं तब देव ने छः भेद माने हैं। रस के भी उन्होंने दो भेद कर दिये हैं—लौकिक और अलौकिक।

देव के अतिरिक्त उजियारे, जसवंतसिंह और रामसिंह ने भी रस का विवेचन करते हुए अनेक भेद और उपभेद बतलाये हैं। इन सबमें रामसिंह के रस-विवेचन में विशेषता दीख पड़ती है। उन्होंने हास्य के अनेक भेद कर दिये हैं और शांत रस के विपरीत माया रस नामक एक नये रस की कल्पना की है। उन्होंने रस-विवेचन के तीन रूप माने हैं—अभिमुख, विमुख और परमुख। उनकी यह उद्भावना और उसका विशद विवेचन रस सम्प्रदाय में विशेष महत्व रखती है।

ध्वनि, सम्प्रदाय और रीतिशास्त्र वा भी हिन्दी में आचार्य कुलपति मिश्र और भिखारी दास ने विवेचन किया है।^१ कुलपति ने मम्मट का आधार लेते हुए अपनी विशेष कल्पना से भी काम लिया है।^२ देव ने भी ध्वनि का वर्णन किया है।^३ सूरति मिश्र ने भी ध्वनि का उल्लेख किया है।^४ किन्तु श्रीपति ने उसका विशेष विवेचन किया है।^५ सोमनाथ ने भी अपने ग्रन्थों में ध्वनि का विपद विवेचनात्मक वर्णन किया है।^६ भिखारीदास ने काव्यप्रकाश का आधार लेते हुए अपने निजी उदाहरणों द्वारा उसे स्पष्ट किया है।^७ इस प्रसंग में उन्होंने बताया है कि केवल अलंकार युक्त काव्य 'अवर' (अधम) काव्य है। अलंकार के साथ गुणयुक्त काव्य 'मध्यम-काव्य' है और गुण, रस, व्यंग तथा अलंकारयुक्त काव्य 'उत्तम-काव्य' है।

ध्वनि का उल्लेख करने वाले अन्य रीतिकालीन कवियों में जनराज कवि मुख्य हैं।^८ इनके अतिरिक्त जगतसिंह,^९ रणधीरसिंह^{१०} और प्रतापसाहि^{११} ने भी नायिका-भेद और अलंकार के साथ ध्वनि का भी उल्लेख किया है। प्रतापसाहि की विशेषता यह है कि नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार साथ ही साथ चलते हैं।

साहित्य सम्बन्धी विभिन्न मतों का पता गोरवामी तुलसीदास जी को था जैसा कि उनके काव्यों में उल्लिखित लक्षणों से पता लगता है, पर उन्होंने इनका विवेचन नहीं किया। उनका कार्य तो इन लक्षणों को अपने काव्य में उतारना था। अतः उनके काव्य ही से पता लग सकता है कि वे किस मत के थे।

-
१. रस निवास। २. रस रहस्य। ३. काव्य रसायन। ४. काव्य सिद्धान्त। ५. काव्य सरोज। ६. रस पीयूष निधि। ७. काव्य निर्णय। ८. कविता रस विनोद। ९. साहित्य सुधानिधि। १०. काव्य रत्नाकर। ११. व्यंग्यार्थ कौमुदी।

असल में उन्होंने इन विवादों में पड़कर स्पष्ट कह दिया है—

“कवि न होउं नहि चतुर कहाऊं ।

मति अनुरूप राम गुन गाऊं ॥

कवित विवेक एक नहि मोरे ।

सत्य कहाँ लिखि कागद कोरे ॥”

किन्तु मानस में काव्य की आत्मा और लक्षणों को परिस्फुटित देखकर जान पड़ता है कि उक्त वाक्य उनकी नम्रता के सूचक हैं । उन की प्रतिभा स्वाभाविक थी और आप से आप काव्य की आत्मा उनमें फूट पड़ती थी ।

“वर्णानामसधानां रसनां छन्दसामपि”

इस श्लोक में उन्होंने वर्ण, अर्थ, रस और छन्द काव्य के इन प्रमुख चार अंगों का उल्लेख किया है ।

यदि प्रथम परिभाषा को ले तो उसके अनुसार गोसाई जी ने संहितित वाक्य ही का अधिक आधार लिया है । वैसे तो उन्होंने व्यास और समास दोनों प्रणालियों का प्रयोग किया है किन्तु थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया है—

“अरथ अमित अति आखर थोरे ।”

(२) इस वाक्य से पता लगता है कि वे अक्षर की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्व देते थे ।

(३) काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के सौंदर्य की ओर उन्होंने ध्यान दिया है, क्योंकि वे दोनों के महत्व को स्वीकार करते हैं—

“कविहि अरथ आखर बल सांचा ।

अनुहर ताल गतिहि नट नांचा ॥”

संगीत में जिस प्रकार ताल और स्वर दोनों की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ दोनों आवश्यक हैं—

“अर्थ अनूप सुभाव सुभाषा ।

सोई पराग मकरन्द सुवासा ॥”

(४) अलंकारों को वे शोभा की वस्तु अवश्य मानते थे किन्तु प्रधान नहीं—

“वसन हीन नहिं सोह सुरारी ।
सब भूषन भूषित नर नारी ॥”

वे कवित्व के गुण-दोषों से अवगत थे । कोमल और मंजु होने के साथ वे दोष-रहित काव्य के प्रशंसक थे—

“सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित ।”

(५) ध्वनि को भी वे महत्व देते थे किन्तु उसको प्रधानता नहीं । ध्वनि का मानस में वही स्थान है जो मानस में मनोहर भावों का होता —

“ध्वनि अषरेव कवित गुन जाती ।
मीन मनोहर सो सब भाँती ॥”

(६) वे भाव और रस को ही सबसे अधिक प्रधानता देते थे । वैसे वे दर्शन के समान साहित्य में भी समन्वयवादी ही थे । उनका मत भोज के मत से अधिक मिलता-जुलता जान पड़ता है—

“निर्दोषं गुणवत् काव्यम् ।”

सप्तम अध्याय

सौन्दर्य और अभिव्यंजना

शास्त्र की आलोचना दो दृष्टियों से की जाती है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य दृष्टि से केवल उक्तियों और शैली पर विचार किया जाता है। उस दृष्टि से भारतीय रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य ने विचार किया है तथा गुण, रस और ध्वनि के आचार्यों ने आभ्यन्तर दृष्टि से काव्य की विवेचना की है।

काव्य का विचार तीन दृष्टियों से किया जाता है—काव्य कर्त्ता, वर्य-विषय और ग्रहीता। 'ग्रहीता' शब्द के अन्तर्गत काव्य के श्रोता नाटक के दर्शक अथवा दोनों के ही पाठक सम्मिलित हैं। यदि काव्य का उद्देश्य आनन्द माना जाय तो यह आनन्द काव्य के कर्त्ता और उसके श्रोता दोनों को आना चाहिए। रसवादियों ने इनके चार विभाग कर दिये हैं—कर्त्ता, अनुकर्त्ता, अनुकार्य और ग्रहीता। इन चारों में रस कहाँ रहता है इसका विवेचन करते हुए किसी ने उसे अनुकार्य में, किसी ने अनुकर्त्ता में और किसी ने ग्रहीता में माना है। उन्होंने कर्त्ता का विचार ही छोड़ दिया है।

(१) कर्त्ता (अर्थात् लेखक या नाटककार), अनुकार्य (अर्थात् नाटक का पात्र), अनुकर्त्ता (अर्थात् नाटक का अधिनेता) और ग्रहीता (अर्थात् नाटक के दर्शक अथवा सामाजिक)। अभिनवगुप्त ने उक्त चारों को रस का आस्वादन करने वाला माना है। उन्होंने कहा है कि मूल बीज रूप से नाटककार में रस रहता है। सामाजिक या दर्शक कवि ही के तुल्य हैं। काव्य वर्णनीय वृत्त या नाटक वृत्त के समान है, अभिनय पुष्प के समान है तथा दर्शकों द्वारा नाटक का रसास्वादन फल के समान है। इस प्रकार सारा विश्व रसमय है। (अभिनव भारती)

जो बात नाटक के लिए कही गई है वही अधिकांश में काव्य के लिए भी लागू होती है। काव्य में नाटक के समान अनुकर्ता या अभिनेता नहीं रहता। केवल इतना ही अन्तर है।

जिन लोगों ने काव्य या नाटक का केवल बाह्य दृष्टि से विचार किया है उन्होंने चार सिद्धान्त निश्चित किये हैं—(१) काव्य की उक्ति विचित्रता लिये होती है और वह सामान्य वार्ता से भिन्न या विशिष्ट होती है। (२) काव्य का चमत्कार उक्ति (अविधा) में होता है। (३) सौन्दर्य अलंकार ही के द्वारा काव्य का ग्रहण होता है। (४) काव्य की उक्ति प्रतिभा से उत्पन्न होती है।

रसवादियों में अभिनवगुप्त के मत को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) काव्य अभिव्यक्ति या व्यंजना है।

(२) काव्य की आत्मा रस है।

(३) रमणीयता ही के द्वारा काव्य का ग्रहण होता है।

(४) रमणीयता का आस्वादन दर्शक या श्रोता (सामाजिक) अपने ही भावों से करता है।

इसी के समकक्ष अभिव्यंजनावादी क्रोचे का मत है। उसका कहना है कि संसार में ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) कला सम्बन्धी ज्ञान जो कि प्रतिभा के द्वारा कल्पना में उत्पन्न होता है, (२) तर्क सम्बन्धी ज्ञान जो कि बुद्धि द्वारा उत्पन्न होता है। उसके मत का सारांश इस प्रकार है—

(१) कला सम्बन्धी ज्ञान प्रतिभा से उत्पन्न होता है।

(२) प्रतिभा ज्ञान की ही अभिव्यंजना होती है।

(३) अभिव्यंजना ही में सौन्दर्य होता है।

(४) अभिव्यंजना मुख्यतः आन्तरिक वस्तु है। आन्तरिक अभिव्यंजना ही बाहर प्रगट होती है। क्रोचे का मत भारतीय रस और वक्रोक्ति दोनों मतों से मिलता-जुलता है किन्तु उसका निष्कर्ष दोनों ही से भिन्न है। भारतीय दृष्टि से काव्य का हेतु केवल प्रतिभा ही नहीं किन्तु अभ्यास और निपुणता

भी है।^१ किसी-किसी ने प्रतिभा के दो भेद कर दिये हैं—सहजा और उत्पादया। सहजा स्वाभाविक प्रतिभा है और उत्पादया निपुणता और अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है। क्रोचे के अनुसार केवल कल्पना ही काव्य है किन्तु भारतीय मत से उसमें लोकशास्त्र तथा काव्य तीनों ही शामिल हैं। क्रोचे की दृष्टि में अलंकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना) दोनों एक ही हैं, किन्तु भारतीय दृष्टि में ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्रोचे के अनुसार काव्य में लौकिकता की चर्चा असंगत है, किन्तु भारतीय दृष्टि में काव्य को लोकोत्तर आनन्द का उत्पादक मानते हुए भी लोक की उपेक्षा नहीं की गई है। क्रोचे अभिव्यंजना को केवल व्यक्तिगत मानते हैं। इससे यह दोष उत्पन्न होता है कि दूसरा व्यक्ति उसका आनन्द नहीं उठा सकता। इसका समाधान अभिनव-गुप्त के इस मत से होता है कि सामाजिक आत्मा ही वासना का आस्वादन अन्य व्यक्ति में करता है। रसवादियों ने मुन्दर से भी आगे बढ़कर रमणीय को ही काव्य की सबसे बड़ी विशेषता माना है।

केवल भारत ही में नहीं किन्तु यूरोप में भी क्रोचे के मत का विरोध किया गया है। दुकाशे ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसफी ऑफ आर्ट' में क्रोचे के मत को असंगत बताया है।

क्रोचे के अनुसार सत्य तथा यथार्थ का एक ही केन्द्र है—मानव मस्तिष्क। उसके बाहर उसका कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार अर्थ तथा कल्पना दोनों ही ज्ञान के दो स्रोत हैं। सहज ज्ञान हमारे इन्द्रिय बोध को आकार प्रहण करने पर बाध्य करता है। यह कार्य अभिव्यक्ति द्वारा सफल हो सकता है। वह हमारे मनोभावों को उचित रूप से प्रदर्शित होने के लिए स्वतन्त्र कर देता है। अभिव्यंजना के द्वारा कलाकार का सहज ज्ञान एकत्र मनोभावों को प्रवाहित करता है।

क्रोचे का मत है कि कला केवल सहज ज्ञान है। वह मानसिक क्षेत्र के अन्दर प्राप्त प्रभावों की अभिव्यंजना मात्र है। सत्य ज्ञान, प्रेरणा द्वारा कला

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणान्।

काव्यज्ञशिक्ष्याभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

का रूप ग्रहण करता है। जब तक प्रेरणा है तभी तक कला है। अभिव्यंजना ही मनोभाव का प्राण है। गीत में जो कलात्मक क्रिया महत्वपूर्ण होती है वह केवल कलाकार के मन में ही रहती है। सौन्दर्य का यह अनुभव जब तक मानसिक रूप में है तभी तक वह कला से सम्बन्धित है। बाहर आते ही कला से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। कला का आनन्द तभी प्राप्त होता है जब कलाकार अभिव्यंजना द्वारा अपने को मुक्त कर लेता है।

कोचे के इन सिद्धान्तों की परीक्षा करने पर जान पड़ता है कि वे कई दृष्टियों से अपूर्ण हैं। पहले तो सभी कलात्मक क्रिया-कलाप जैसे ही कलाकार के मन से अलग हुए वैसे ही वे कला के क्षेत्र से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार उसकी कृति भी कलाकृति नहीं रह जाती। जब कलाकृति कलाकार के मन से अलग होते ही कलाकृति नहीं रह जाती तब उसकी आलोचना किम प्रकार की जा सकती है? कलाकार जैसे ही अपने मानसिक क्षेत्र के बाहर जायगा वह कलाकार नहीं रह जायगा, क्योंकि उसे सामाजिक वातावरण में से जाना होगा। इस सिद्धान्त में पाठक या दर्शक की मनोवृत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। कलाकार का भाव दर्शक पर कैसा पड़ता है इसी कसौटी पर कला की परीक्षा की जाती है। या तो कला पाठक या दर्शक को आनन्द प्रदान करे या शिक्षा प्रदान करे। अतः अभिव्यंजना का परिणाम देखकर ही कलाकृति की परीक्षा हो सकती है। केवल मनोभावों को व्यक्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है। व्यक्ति या समाज पर उनका प्रभाव भी देखना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त में इस बात का भी कोई ध्यान नहीं दिया गया कि जीवन और सौन्दर्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन सौन्दर्य का प्रतिक्षण निर्माण करता है और सौन्दर्य भी जीवन को पग-पग पर प्रभावित करता रहता है। यदि कला इसकी उपेक्षा करके केवल कलाकार के मानसिक जगत् ही में विचरण करती रही तो संसार को कोई लाभ या आनन्द नहीं मिलेगा और न स्वयं कलाकार को ही संतोष हो सकेगा। जैसा कि भूति ने कहा है कि

बिना विद्वानों को संतोष दिये मैं अपने प्रयोग की सफलता नहीं मानता ।¹
यह बात सभी कलाकारों के लिए सत्य मित्र होती है ।

किसी ने कहा है कि “सौन्दर्य का प्रकाशन करना ही काव्य है और सुन्दर के बोध को बोधगम्य बना देना ही काव्य का उद्देश्य है ।” उक्त वाक्य में दो शब्द आये हैं—सुन्दर और बोधगम्य । सौन्दर्य अनुभूति का विषय है और ज्ञान बोध का । सुन्दर की परिभाषा करना भी कठिन है । जो एक की दृष्टि में सुन्दर है वही दूसरे की दृष्टि में असुन्दर भी हो सकता है किन्तु साधारणतः सुन्दर वही कहा जाता है जिसे देखते ही सब का मन आकृष्ट हो जावे । सूर्योदय और सूर्यास्त प्रकृति के ऐसे सुन्दर दृश्य हैं जिनको देखकर प्रत्येक मनुष्य प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ! चाहे कोई मनुष्य कारण बता सके या नहीं किन्तु वह सुन्दर पुष्प, निर्मल झरना, अथवा सजल जलद की श्याम छटा से मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता । यद्यपि सुन्दर की परिभाषा करना कठिन है किन्तु उस ही अनुभूति और प्रभाव सर्व स्वीकृत हैं ।

सत्य के उपासक कहते हैं कि सत्य ही सौन्दर्य है । ऊपर से देखने पर सत्य या वास्तविकता रूखी-सूखी वस्तु जान पड़ती हैं । प्रश्न हो सकता है कि सत्य और सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है ? दार्शनिक कहते हैं कि सत्य ही में असली सौन्दर्य है । सत्य का अर्थ है वह वस्तु जो तीनों काल में एक रस रहे । सत्य सरीखी दुरूह वस्तु को यदि कोई बोधगम्य करा सकता है तो वह है सौन्दर्य । क्योंकि पहले-पहल हम सौन्दर्य ही के द्वारा उसकी ओर आकृष्ट होते हैं और बाद में उसके अन्तर में प्रवेश पाते हैं । अथवा ऐसा कहना चाहिए कि सौन्दर्य ही के द्वारा हम सत्य का परिचय पाते हैं । इसी कारण ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—“विष्णु की पूजा नारद की वीणा से होती है और सत्य की पूजा सौन्दर्य ही के द्वारा सम्भव है ।”

सत्य में सौन्दर्य का रस अन्तर्निहित हो सकता है किन्तु उसका अनुभव तभी होता है जब हमें उसकी अपने अन्तर में प्राप्ति हो । रवि ठाकुर के शब्दों

१. आपरिदोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

में, “हम सत्य में तभी सौन्दर्य का रस पाते हैं जब अन्तर में निविड़ उपलब्धि होती है, ज्ञान के द्वारा नहीं स्वीकृति के द्वारा। इसी को कहते हैं वास्तव।” इसका अर्थ यह है कि जब तक सौन्दर्य के द्वारा सत्य हमारे लिए बोधगम्य नहीं होता तब तक वह हमारे लिए अवास्तव—काल्पनिक—ही बना रहता है। सत्य को कठोरता मिटाकर उसे सरस बनाने के लिए सौन्दर्य के सरल रस की नितान्त आवश्यकता है।

मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है आनन्द-प्राप्ति। यह आनन्द हमें सत्य के बोध द्वारा भी प्राप्त होता है और सौन्दर्य की अनुभूति के द्वारा भी। काव्य, बोध को भी सुगम बना देता है और सौन्दर्य की अनुभूति को भी उत्कट कर देता है। सत्य को सौन्दर्य द्वारा बोधगम्य बना देना ही काव्य का उद्देश्य है।

काव्य अपना यह उद्देश्य छन्द, संगीत और वर्ण-विन्यास के द्वारा पूर्ण करता है। जो वस्तु युक्तियुक्त होती है उसे प्रमाण से सिद्ध करना होता है। जो बोधगम्य है उसे आनन्दमय बनाना चाहते हैं, और जो आनन्दमय है उसे हम प्रकाशित करना चाहते हैं। काव्य ये दोनों ही काम करता है। बोधमय सत्य को सौन्दर्य के द्वारा बोधगम्य भी बनाता है और आनन्दमय सत्य का प्रकाश भी करता है। ऋषि सत्य का केवल अनुभव ही कर सकता है, प्रकाशित नहीं कर सकता। वह सोचता है कि सत्य वह तत्त्व है जहाँ से मन वाणी सहित लौट आती है।

“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।”

× × ×

“मन समेत जेहि जान न बानी॥”

किन्तु कवि अपनी कल्पना और वाणी दोनों के बल से उस सत्य को प्रगट करने का प्रयास करता है। उस प्रयास में वह स्वयं भी आनन्द उठाता है और दूसरों को भी आनन्द वितरण करता है। जब तक वह उस अनुभव को प्रगट नहीं करता तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। सत्य का आन्तरिक सौन्दर्य उसके गीतमय छन्द, सुन्दर वर्ण-विन्यस और ध्वनि-भङ्गार के द्वारा उसे और भी सुन्दर बना देता है, किन्तु यदि उसमें आन्तरिक सत्य की

अनुभूति नहीं है तो बाहिरी छन्द वर्ण-विन्यास और ध्वनि-भङ्कार निरर्थक सिद्ध होती है। रवि० ठाकुर के शब्दों में “उसका अलङ्कार पुंज चाहे कितना भी गुंजरित क्यों न हो वह केवल मन भुलाने का साधन मात्र होगा। यदि वह मृग्य भाषा में सौन्दर्य की गुलामी करेगा तो भी उसकी अवास्तविकता और जोंगों से अपनी घोषणा करेगी।” इस प्रकार छन्द शब्द तथा संगीत काव्य के सहायक मात्र हैं, उसकी आत्मा नहीं।

किन्तु काव्य का सौन्दर्य बढ़ाने में उनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। छन्द में जो वेग है उस वेग के आदेग से रसयुक्त वाक्य सहज ही हृदय में प्रवेश कर जाते हैं, मन को आन्दोलित कर देते हैं। छन्द आदि का उपयोग-ऊपरी परिधान के समान है। सन्यासी की प्रतिष्ठा उसके वस्त्रों से अवश्य होती है किन्तु यदि उसका चरित्र उसके वस्त्रों के विपरीत है तो वह प्रतिष्ठा स्थायी नहीं रह सकती। वही छन्द और अलङ्कार का हाल है। वे केवल काव्य को अलङ्कृत और शोभित कर सकते हैं, उसकी आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। तुलसीदासजी ने कहा है—

“वसन हीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी॥”

“सरल आवे उी रति निगल
लोहे आदरेई- सुआन !
वेधन तो उधे ही मेलु ॥ पासक ही

अष्टम अध्याय

रसों का उन्नयन और सौन्दर्य-दर्शन

साहित्य का क्षेत्र इन्द्रियों से परे और आत्मा के नीचे आता है। हमारे यहाँ तीन आनन्दों की चर्चा की गई है—विषयानन्द, काव्यानन्द और आत्मानन्द (इसमें बौद्धिक आनन्द को या तो छोड़ दिया है अथवा आत्मानन्द के साथ जोड़ दिया है। उसे भी यदि जोड़ दें तो शास्त्रानन्द भी तीसरे नम्बर रखना पड़ेगा)।

साहित्यिक आनन्द या काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कह उसकी बराबरी ही का स्थान दिया गया है। अतः उसका महत्व किसी प्रकार कम नहीं।

काव्यांग—साहित्य का आनन्द उठाने अथवा काव्य-रचना के लिए चार काव्यांगों का जानना आवश्यक है—वर्ण, अर्थ, रस और छन्द।

वर्णों से काव्य और वाक्य बनते हैं। यहाँ व्याकरण की आवश्यकता आ जाती है। अन्तर इतना ही है कि व्याकरण वर्णों की व्युत्पत्ति आदि के कारण शुष्क हो जाती है। उसमें सभी वर्णों और शब्दों पर विचार किया जाता है, जबकि काव्यों में केवल रसात्मक वाक्यों का। इसलिए काव्य की व्याख्या में कहा है—

“वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।”

रमणाय अर्थों के प्रतिपादक वाक्य को ही काव्य माना है। वर्ण और अर्थ दोनों की रमणीयता आवश्यक है। साधारण वाक्य और काव्य में अन्तर बतलाने के लिए दो वाक्य उद्धृत किये जाते हैं। सूखा वृक्ष सामने खड़ा हुआ है। यह सीधी तरह से कहा जायगा—

“शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।”

यह वाक्य सूखे वृक्ष ही के समान नीरस है। किन्तु कवि इसे सरस बना देता है—

✓ “नीरस तरुवर विलसति पुरतः ।”

इसमें कोमल कान्त पदावली का व्यवहार किया गया है। इसके लिए जयदेव प्रसिद्ध हैं—

“ललित लवंग लता परिशीलन, कोमल मलय समीरे ।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल, कूजित कुंज कुटीरे ॥”

रवीन्द्रनाथ की भंकार देखिये—

“नील अंजन घन पुंजित छायाय संवृत अन्तर, हे गंभीर ।
वन लक्ष्मीर कम्पित काय चंचल अंतर, हे गंभीर ॥”

(गीत वितान)

हिन्दी में हितहरिवंश वर्णन शैली के लिए प्रसिद्ध हैं—

“मंजुल कल कुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राकानन कुमुद बन्धु शरदयामिनी ।
श्यामल दुति कमल अंग, विहरत मिलि एक संग,
नीरदमणि नील मध्य लसत दामिनी ॥”

इसमें काव्य के साथ संगीत का आनन्द भी आता है। असल में दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है। संगीत के लिए छन्द की भी आवश्यकता होती है जो कि काव्य का तीसरा अंग है। रोम्यों रोला ने ठीक ही कहा है कि संगीत आत्मा का स्वच्छ दर्पण है—

“Music is the implacable mirror of the soul.”

किन्तु शब्द, अर्थ और छन्द तीनों से महत्वपूर्ण है रस, जिसे कि काव्य की आत्मा माना है—

“काव्यम्यात्मा स एवार्थः यथाचादिकवे; पुरा ।

क्रौंचद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोक्तवमागतः ॥”

काव्य की आत्मा रस है यह तो सभी मान लेंगे; किन्तु यहाँ उदाहरण के रूप में करुण रस की चर्चा की गई है जिसे शायद बहुत से लोग स्वीकार

न करेंगे। आचार्यों ने शृंगार को रसराम कहा है। भवभूति ने करुण रस को एकमात्र रस मानकर बाकी रसों को उसी के भेद माने हैं—

“एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्।

भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ॥”

यह तो निर्विवाद है कि काव्य की आत्मा रसानुभूति है चाहे वह किसी निमित्त से हो। किन्तु करुण रस के पक्ष में यह बात है कि वियोग या विरह में जितनी रसानुभूति होती है उतनी दूसरी अवस्था में नहीं। इसलिए पन्त जी ने लिखा है—

“वियोगी होगा पहला कवि, रुदन से उपजा होगा गान। —

विरह के छन्दों में चुपचाप वही होगी कविता अनजान ॥”

यहाँ वाल्मीकि जी को कौच-वध से इतनी करुणा उत्पन्न हुई कि उनके उद्गार बिना प्रयास श्लोक बनकर निकल पड़े जैसा कि कालिदास ने कहा है—

“श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।”

वहाँ तुलसीदास जी ने काव्य की उत्पत्ति आनन्दमनुभूति से मानी है—

“भरेउ हृदय आनन्द उछाहू। उमँगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ॥

चली उमँगि कविता सरिता सी। राम विमल जस जल भरितासी ॥”

इससे निश्चय होता है कि निमित्त भेद से करुणा या आनन्द दोनों से काव्य की उत्पत्ति हो सकती है। मुख्य बात है रस की अनुभूति। किन्तु हम देखते हैं कि संयोग शृंगार हमारे हृदय को उतना स्पर्श नहीं करता जितना कि विप्रलम्भ शृंगार। रोम्यों रोलों ने शेक्सपियर के ‘हेमलेट’ की आलोचना करते हुए लिखा है कि उनमें इतनी जीवनी शक्ति है कि करुणा ही आनन्द बन जाती है। गांधी जी ने भी अपने एक पत्र में लिखा था “इस संसार के शुद्ध आनन्द हमारे शोक में बसते हैं। हम लोग बिना दुःख की प्राणप्रद वायु के जीवित नहीं रह सकते।” इस प्रकार करुणा और आनन्द दोनों ही हमारे जीवन के अंग हैं। जगत् की करुणा की अनुभूति हमें शुद्ध

कर हमें अनुपम आनन्द देती है। यही कारण है कि जब हम 'रामचरित मानस' में सीता जी के वियोग का वर्णन पढ़ते हैं तब हमारा जी भर आता है—

“अबगुन एक मोर मैं जाना ।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा ।
विसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥
विरह अगिनि तनु तूल समीरा ।
स्वांस जरइ छन मांह सरीरा ॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी ।
जरै न पाव देह विरहागी ॥”

उन्होंने प्रभु की माधुरी मूर्ति रूपी अमृत आँखों में विवाह के समय ही भर लिया था। वह अन्त तक जीवन को सँचता रहा। फिर मृत्यु का विष कैसे फैल सकता था? सखी ने कहा ही था—

“श्यामल रूप सुधा भरिबे कहूँ नयन कमल कल कलस रितौरी ॥”

बात यह है कि विरह में जितना सामीप्य होता है उतना संयोग में नहीं। कौशल्या की ही दशा देखिये—

“माई री मोहिं कोउ न समुझावै ।
राम गवन साँचोकै सपनो मोहिं परतीति न आवै ॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता ।
तऊ न मिटत दाह या उर की विधि जु भयौ विपरीता ॥”
विरहावस्था में श्यामसुन्दर की भी दशा देखिये—

“गदगद सुर विरहाकुल पुलकित,
स्रवत विलोचन नीर ।
स्वासि क्वासि वृषभानु नन्दिनी,
विलपत विपिन अधीर ॥”

(श्री हित हरिवंश)

उसी प्रकार राधा की दशा हो रही है—

“रुदन करिति वृषभानु कुमारी ।
बार बार सखियन उर लावति कहाँ गये गिरधारी ॥
कबहुँ गिरति धरनि पर व्याकुल देखि दशा ब्रज नारी ।
भरि अँकवार धरति मुख पोंछति देति नैन जल ढारी ॥”

संयोग शृंगार में तो वासना का आभास आ जाता है किन्तु वियोग में तो चित्त की शुद्ध रस दशा उत्पन्न हो जाती है । अन्तिम आदर्श तो जीव ब्रह्म का संयोग ही है । अतः साहित्य में वही उपादेय माना गया है । वैष्णव साहित्य में निकुंज विहार इसी कारण चरम आदर्श माना गया है—

“विहरत कुंजनि कुंज विहारी ।
पिक सुक विहँग पवन थकि चिर रहे,
तान अलापत जय गिरिधारी ।
सरिता थकित थकित द्रुम वेली,
अधर धरत मुरली जब प्यारी ।
रवि अरु शशि देखें दोऊ चाहति,
शंक रहित तव बदन उजारी ।
सूरदास स्वामी की लीला,
अब जोवै वृषभानु दुलारी ।”

सौन्दर्य-बोध शृंगार रस का अभिन्न अंग है । हम देखते हैं कि अन्य प्राणियों में नर ही अधिक सुन्दर होता है और मादा उसकी ओर आकृष्ट होती है किन्तु मनुष्य में इससे उल्टी बात देखी जाती है । संत कवियों ने राम एवं कृष्ण के रूप में पुरुष सौन्दर्य के अनुपम चित्र उपस्थित किये हैं जिनकी ओर जनकपुर की नारियाँ और वृज की गोपियाँ आकृष्ट होती हैं । सूरदास ने बाल, केशोर और युवक सभी रूपों के चित्र उपस्थित हैं—

“मेरे हिय लागे मन मोहन,
लै गये री चित चोरी ।

अवहीं इहि मारग हँ निकसे,
 छवि निरखत तृण तोरी ।
 मोर मुकुट स्रवननि मनि कुण्डल,
 उर वनमाल पिछौरी ।
 दसन चमक अधरनि अरुनाई,
 देखत परी ठगौरी ॥”

इसी प्रकार राधा की रूपमाधुरी देखिये—

“मोहिनी मोहन की प्यारी ।
 रूप उदधि मधि कै विधि हठि पवि
 रची जुवति वह न्यारी ।
 चम्पक बरन कलेवर की दुति
 ससि न वदन समता री ।
 खंजरीट मृग मीन की गुरुता
 नैनननि सशङ्क निवारी ॥”

खेद है कि प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर हमारे कवियों का इतना ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है जितना मानवीय सौन्दर्य की ओर हुआ । वाल्मीकि और कालिदास ने जितना प्रकृति का सजीव वर्णन किया है वैसा हिन्दी कवियों में नहीं मिलता । उनके ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा वन श्री के वर्णन अद्वितीय हो उठे हैं । वाल्मीकि का शब्द वर्णन देखिये—

“अथ कालः स सम्प्राप्तः प्रियो यः कामिनां सताम् ।
 अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥
 नीहार परुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी ।
 जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥”

× (कामिन कहँ अतिप्रिय ऋतु आई ।
 वन वन प्रति सुख सुरभि बिछाई ॥
 होत अलंकृत जासौ वत्सर ।
 वसत जीव जेहि मँह निर्मत्सर ॥)

वर्षा की बहार निहारिये—

“बहन्ति वर्षन्ति नन्दन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वासन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ता
प्रियाविहीना शिखिनः प्लवंगमाः ॥” (वाल्मीकि)

(वहत सुवर्षत नदत अति शोभत विविध सुगात ।
नदी मेघ गजराज नित सुन्दर वन प्रिय भ्रात ॥
ध्यावत नर्तत मुदित ह्वै नित आनन्दित होय ।
प्रिया हीन जन मोर जित वनचर वानर सोय ॥)

नारी या नर का सौंदर्य के वर्णन करने के लिये हम उपमा तो प्रकृति ही से लेते हैं। इससे जान पड़ता है कि हम मन ही मन प्रकृतिक सौंदर्य को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं—

“खंजन सुक कपोत मृग मीना ।
मधुर निकर कोलिका प्रवीना ॥
कुन्द कली दाडिम दामिनी ।
सरद्द कमल ससि अहि भामिनी ॥
काम पास भनोज धनु हंसा ।
तुमहिं निरखि जनु करत प्रसंसा ॥”

सूरदास का सौंदर्य वर्णन देखिये—

“आज निशि शोभित शरद सुहाई ।
शीतल मंद सुगंध बहै रोम रोम सुखदाई ॥
यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मंडिली बनाई ।
राधा वाम अंग पर कर धरि मध्यहि कुंवर कन्हवाई ॥”

सूरदास का ध्यान आकाश-मण्डल की अपेक्षा रास मण्डल की ओर अधिक है और निर्मल चन्द्र की अपेक्षा कृष्ण चन्द्र ही उनके केन्द्र-बिन्दु हैं।

तुलसी का चित्रकूट वर्णन इसलिए सजीव है कि उसके पीछे उनके चित्रकूट-निवास की अनुभूति है—

“फटिक शिला मृदु विसाल संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता जाल हरित छवि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर साम गान की।”

तुलसी की दृष्टि में भी वन की अभिरामता नहीं किन्तु “लोक लोचना-भिराम” राम की रमणीयता बसी हुई है। इसलिए अन्त में वे उसी पर आ जाते हैं। श्री हितहरिवंश ने अपनी ललित मदावली में शरद सौन्दर्य का वर्णन किया है—

“बंशीबट निकट जहाँ परम रमणि भूमि जहाँ,
सकल सुखद मलय बहे वायु मन्दिनी।”
जाती ईशद विकास, कानन अतिशय सुवास,
राकानिसि सरद् मास बिमल चंदिनी।”

किन्तु वे भी उस प्रकृति में प्राकृतिक सौन्दर्य के बदले प्रभु के सौन्दर्य को निहारने का आग्रह करते हैं—

“नरबाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोषनारि,
नख सिख सौन्दर्य काम सुख निकन्दिनी।
बिलसहि भुज ग्रीव मेलि, भाभिनि सुख सिन्धु भेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी।”

इसमें ‘निकुंज’ की अपेक्षा ‘श्याम केलि’ ही अधिक आकर्षक है।

शृंगार से सम्बन्धित रस वात्सल्य है। पहले के आचार्यों ने इसकी नव रसों में गिनती ही नहीं की थी, अतः वह दशम रस माना गया—

“वात्सल्यो दशमो रसः”

इसके अद्भुत उदाहरण हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। सूरदास तो इसके आचार्य ही हैं—

“चपल श्याम घन राजत बाजति पैजनि पग-पग चारु मनोहर ।
डगमगात डोलत आंगन में निरखि विनोद भगन सुर मुनि नर ॥”

इन रसों का एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध है, जैसे वीर और रौद्र, वात्सल्य और शृंगार, भयानक और अद्भुत, करुण और शान्त ।

रस असल में मनुष्य के मनोविकार हैं जो दूसरे नर-नारियों के प्रति प्रकट होते हैं । हमारे मन में जो मनोविकार वर्तमान हैं उन्हीं के संयोग से ये रस प्रगट होते हैं । हमारे चित्त में मूल दो ही भावनाएँ काम करती हैं— अनुकूल के प्रति अनुराग और प्रतिकूल के प्रति विराग या घृणा । इन्हीं के विभिन्न रूप काम और क्रोध हैं । इन मनोविकारों को संतुष्ट करने के लिए शृंगार रस का स्थायी भाव रति और वीर का स्थायी भाव क्रोध मान लिया गया है । रीति काल में विदेशी प्रभाव के कारण इसमें भोग और रूपासक्ति प्रधान हो गई, मानसिक रति गौण हो गई । धर्म और नीति का शासन न रहने के स्वकीया भाव के बदले पर कीया प्रेम ने प्रबलता धारण कर ली । जयदेव आदि संस्कृत तथा चण्डीदास आदि बंगला कवियों ने परकीया प्रेम प्रचार करना शुरू किया । उसका प्रभाव ब्रज के हिन्दी कवियों पर पड़ा और उन्होंने बाल कृष्ण के बदले किशोर कृष्ण को अपना आलंवन बना लिया । उनके द्वारा भक्त कवियों ने मधुर रति तथा मंगारी कवियों ने अपनी भाग व्यक्ति का चरितार्थ करने का उपाय निकाल लिया ।

यही कारण है कि हमे दाम्पत्य प्रेम को एक पत्नि व्रत के प्राचीन आदर्श को छोड़कर परकीया प्रेम और बहुपत्नी प्रेम का प्रतिभास होने लगा । पारिवारिक आदर्श भी शिथिल हो गया—

“छोड़ दई कुल की कानिका करेगो कोई ।”

भक्त तल्लीनता में मोरा की यह उक्ति उनके त्याग की पराकाष्ठा को बतलाती है किन्तु जनसाधारण के लिए वह अमर्यादा को भी प्रेरणा दे सकती है । जो प्रेम आध्यात्मिक दृष्टि से चित्रित किया गया उसका उपयोग दुराचार की ओर भी हो सकता है—जैसा कि रीतिकाल में हुआ । नन्ददास

ने तो गोपियों की प्रशंसा में कहा था—

“तुम जो करी अस कोउ न करै सुनु नवल किशोरी ।

लोक वेद की प्रबल शृंखला तुन सम तोरी ॥”

किन्तु पारिवारिक या सामाजिक दृष्टि से यह लोक वेद की शृंखला तोड़ना कोई उपादेय बात नहीं समझी जा सकती ।

आध्यात्मिक दृष्टि से जीव ब्रह्म का ही रूप है और वह उससे अलग होकर उसका वियोग सहन करता है । जब तक उससे पुनः मिलन नहीं हो जाता तब तक भटकता रहता है—

“जब जब ते हरि तें बिलगाम्यो ।

तब तें देह गेह निज मान्यो ॥

मायावश स्वरूप बिसरायो ।

तेहि भ्रम तें दारुण दुख पायो ॥”

इसी आदर्श पर अर्ध नारीश्वर के रूप में नर-नारी एक दूसरे के अंग-अंगी हैं । एक दूसरे के विरह में वे कष्ट सहन करते हैं और मिलन की आकांक्षा करते हैं । मीरा की विरह-भावना इसी का प्रतीक है और उनकी तन्मयता इसी उच्च आदर्श की ओर ले जाती है—

“थारे रंग रीभी रसिक गोपाल ।

निशिवासर में रटूं निरन्तर दरसन द्यो नन्दलाल

सो पतिव्रत टरै बिन टारो मति बिसरो नन्दलाल ।

कोउ कहै निन्दो कोउ कहै बन्दो चलाँ भावनी चाल ॥

सो पथ भलि केरो जिन साधो म्हारो मणि उरमाल ।

प्रेम भरी मीरा जिन गरबै, हरि है गिरधर लाल ॥”

काम सृष्टिकर्ता के रूप में स्वयं भगवान् का स्वरूप है । जीवन में यह एक प्रबल भावना है । मर्यादा के भीतर इसे उपादेय कह सकते हैं, किन्तु उसका अतिक्रम करने पर यह विकारही नहीं भयंकर शत्रु हो जाता है । रूप और प्रेम इसके प्रधान आश्रय हैं । इसके दो रूप हो जाते हैं—वाह्य और आंतरिक । वाह्य रूप सौन्दर्य-बोध से सम्बन्ध रखता है और आंतरिक रूप प्रेम से । रूप

के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है और गुण के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। केवल बाह्य रूप सक्ति के कारण विलासिता की उत्पत्ति होती है। इस कारण नीति तत्व या पारिवारिक बन्धन इसे संयमित रखने का उपाय है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को प्रकृति पुरुष के आध्यात्मिक सम्बन्ध के स्तर पर उठाने का प्रयत्न किया गया है। परस्पर त्याग के आदर्श पर स्थापित कर इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

पार्वती और शिव, राम और सीता, सावित्री और सत्यवान, नल और दमयन्ती आदि आदर्शों के द्वारा इसे क्रमशः पारिवारिक कर्तव्य, सामाजिक आदर्श तथा आध्यात्मिक ऐक्य के आदर्श तक पहुँचा दिया गया है। ज्यों-ज्यों भोग की मात्रा कम होकर त्याग की मात्रा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों आत्म-तुष्टि के बदले कर्तव्य प्रधान हो जाता है। स्वार्थ के स्थान पर धर्म मुख्य स्थान ले लेता है और अन्त में वह आध्यात्मिक भक्ति का साधन बन जाता है।

कामदेव को भस्म के बाद भी पार्वती का शंकर से विवाह करना उनके सम्बन्ध को भौतिक से उठाकर आध्यात्मिक भूमिका वर ले जाता है। ऋषियों को पार्वती का मुँह तोड़ उत्तर इसी का परिणाम है।

“तुम्हरे जान काम अब जारा।

अब लग संभु रहे सविकारा॥

हमरे जान सदा सिव योगी।

अज अनवद्य अकाम अभोगी॥

अकाम अभोगी शिव का वर्णन भारतीय नारीत्व का चरम आदर्श उपस्थित करता है। सौन्दर्य-बोध जो कि पश्चिम का आदर्श है हमारे यहाँ, बहुत नीचे स्थान पाता है।

सौन्दर्य-प्रदर्शन (display) या प्रतियोगिता (beauty competition) की वस्तु नहीं किन्तु पूजा की सामग्री है। इसलिए पार्वती अपने सौन्दर्य को तप के द्वारा पवित्र कर शिव के चरणों में अर्पण करना चाहती है—

“ईये षण कर्तुं भवन्ध्य रूपतां

समाधि मास्थाय तपोभिरात्मनः।” (कुमार-सम्भव)

हमारे यहाँ नारी का सौन्दर्य दूसरों के लिए नहीं बरन् उसका फल प्रियतम की प्रसन्नता है—

“प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता ।”

प्रेम की परिणति केवल शिव-पार्वती परिणय में नहीं किन्तु कुमार सम्भव (पुत्र-जन्म) में होती है। जिस प्रकार प्रिय-पूजन सौन्दर्य का लक्ष्य है उसी प्रकार संतान-प्राप्ति दाम्पत्य का उद्देश्य है। यही “प्रजनश्चास्मि कंदर्पः” की सार्थकता है। संतान-उत्पत्ति के बाद दाम्पत्य-प्रेम अपत्य स्नेह में बदल जाता है, शृंगार रस वात्सल्य रस में परिणत हो जाता है। काम का उन्नयन प्रेम में होता है। एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण शृंगार की परिणति है और दोनों का तीसरे (संतान) के प्रति समर्पण और प्रेम केन्द्रीकरण वात्सल्य की। इस प्रकार वात्सल्य रस शृंगार रस का स्थान लेता है।

वत्स की असहाय दशा देखकर दम्पति के हृदय में जो करुणा और प्रेम उत्पन्न होता है इसी को करुणा रस का प्रारम्भ मानना चाहिए। उसी भावना के साधारणीकरण या व्यापक अनुभव से करुणा रस का उन्नयन होता है। रस जितना ही बाह्य रूप को छोड़कर अन्तर्मुख होगा उतना ही प्रगाढ़ होगा, जितना ही केन्द्रित होगा उतना ही गहरा होगा और जितना ही विस्तृत होगा उतना ही उन्नत और विशाल होगा।

वाल्मीकि की करुणा कौच पत्नी से प्रारम्भ होकर सारी रामायण में फैल गई। तुलसीदास जी की करुणा काशी की दशा देख देश-व्यापनी होकर विनयपत्रिका में रो उठी—

“दीनदयाल दुरित दारित दुख दुनी सकल तिहुं माप तई है।

देव दुआर पुकारत आरत सबकी सब सुख हानि भई है ॥

भवभूत की करुणा उत्तर रामचरित में सीता का वियोग देखकर सारी स्त्री जाति की दशा पर रो पड़ी। इस प्रकार करुणा रस उनकी दृष्टि में सर्व-श्रेष्ठ रस बन गया—

“अपि प्रावा रोदिस्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।”

करुणा से निर्वेद उत्पन्न होता है दूसरों का दुख देख अपने सुख के प्रति वृणा या उपेक्षा हो जाती है। बुद्ध की करुणा इसी रूप की विश्वव्यापिनी करुणा थी जिसने शान्ति रस को जन्म दिया। जब हम देखते हैं कि सभी संग्रहों का क्षय में, उन्नति का पतन में, जीवन का मृत्यु में और संयोग का वियोग में अंत होता है—

“सर्व क्षयान्तानि च या पतनान्ता समुच्छ्रयाः।

संयोगाः विप्रयोगान्ता मरणान्तं तु जीवितम् ॥” —वाल्मीकि

तब सभी संचयों और संयोगों की व्यर्थता जान पड़ती है और चित्त उस शांति की खोज में लग जाता है जिससे ये सब बातें असम्भव हो जावें। तब वह अस्थिर और नश्वर को छोड़कर स्थायी और चिरन्तन की खोज में लग जाते हैं। यहीं से शान्त रस का सूत्रपात होता है और तुलसी के साथ गाने लगते हैं—

“ऐसहि जनम समूह सिराने।

प्राणनाथ रघुनाथ से हरि तजि सेवत चरण विराने ॥”

और हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं—

“सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पांय पिराने।

तुलसी चित्त चिन्ता मिटै विनु चिन्तामणि पहचाने ॥”

इस चिन्तामणि के प्राप्त होते ही सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं और हम अमृत हो जाते हैं—

“तरिति शोकं तरिति पाप्मानं,

गुहा ग्रन्थिम्यो विभुक्तो ऽमृतो भवति ।”

इस दृष्टि से शान्त रस ही रसराज है, क्योंकि यही रसों में रसतम है इसे प्राप्त कर मनुष्य आनन्दमय हो जाता है—

“रसो वैसः रसानाम् रसतमः।

एष लब्ध्वा आनन्दी भवति ॥”

वही आनन्द रूप अमृत है, शान्तं शिवं अद्वैतम् है, शान्तं समद्धं अमृतम् है। हमारा अन्तिम आदर्श अन्यरसता को छोड़कर एकरसता की

प्राप्ति करना है, सब रसों का समावेश एकरस में करना है। साहित्य में नव रस है। महाकाव्य में सब का वर्णन करना आवश्यक माना गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब उपादेय है। हमारे शरीर में भी सभी धातुएँ हैं। किन्तु वे अलग-अलग उपयोगी नहीं, सब मिलकर शरीर की परिपुष्टि करना ही उनका उपयोग है। इसी प्रकार सभी रसों का उद्देश्य एकरसता की परिपुष्टि करना चाहिए। इसलिए संत गाते हैं—

“गहो मन सब रस को रससार।

लोक देवकुल करमैतजिये भजिये नित्य विहार ॥”

हमें तो इस रससार में विहार करना है। रसमयता या एकरसता का स्वाद आने पर जो दशा होती है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“जो मोहि राम लागते मीठे।

तौ षटरस नवरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥”

इसका अर्थ निरसता नहीं किन्तु परम सरसता, एकरसता, समरसता है।

साहित्य में नवरस है, क्योंकि हमारे मन में नव प्रकार के मनोविकार हैं। किन्तु क्या हम इन सभी को पसन्द करते हैं ? हम केवल प्रिय, सुन्दर, मंगल-कारक वस्तुओं को ही चाहते हैं। वीभत्स को भी एक रस कहा गया है; किन्तु उसका वर्णन सुनते या देखते ही मुख मोड़ लेते हैं—

“शोणित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोबई ॥”

सुनते ही हमारा मन घृणा से भर जाता है। इसी प्रकार हम भयंकर को कहीं देखना नहीं चाहते, केवल सुखकर को ही चाहते हैं। अतः भयानक रस भी गया। रौद्र और वीर रस की भी समय-समय पर आवश्यकता है; वे सदा के लिए उपादेय नहीं। हास्य रस की भी हमें भोजन में चटनी के समान आवश्यकता पड़ती है। वियोग और मरण को भी कोई पसन्द नहीं करता। अतः करुण रस भी प्राप्त्य नहीं। संयोग को प्रत्येक मनुष्य चाहता है, सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है; किन्तु उसके भीतर वासना का दंश और वियोग

की सम्भावना देखकर उससे निर्वेद हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है। अतः अन्त में शान्त रस में ही सब को आना पड़ता है।

यदि हमें सब रसों को रखना ही है तो उन रसों का उन्नयन करते हुए हमें उन्हें शुद्ध बनाना है। कच्चे रसों को पीने से मृत्यु हो जाती है। अतः हमें विशुद्ध परिपक्व रसों का ही पान करना चाहिए। यदि हमें शृङ्गार रस का आनन्द लेना है तो विश्व प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य को नेत्र भरकर देखें, शृङ्गार में रुचि है तो लोकोत्तर शृंगार की भोर आकृष्ट हो, वात्सल्य रस का आनन्द उठाना है तो “वसुधैव कुटुम्बकम्” का अनुभव करें, करुण रस का आस्वादन करना है तो विश्व के दुःखित, पीड़ित प्राणियों पर अपनी करुणा का विस्तार करें, वीर रस का मज़ा चखना है तो दुष्टों पर उसे आजमायें, यदि हम अहिंसा के उपासक हैं तो दुर्गुणों का संहार करें, वीभत्स रस देखना है तो स्वयं अपनी देह को ओर देखें। हास्य रस का सुख भोगना है तो नश्वरता पर रीझने वालों पर हँसें, यदि हमारे न मिलें तो स्वयं अपनी अज्ञानता पर हँस लें, भयानक रस का रस लेना है तो मृत्यु की भयंकरता को देखें, और यदि अद्भुत का प्रत्यक्ष दर्शन करना है तो इस आश्चर्य पर सोचें कि—

“अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममंदिरे।

शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किं भाश्चर्यमतः परम्॥”

नवम अध्याय

आलोचना सम्बन्धी अन्य वाद

भौतिक द्वन्द्ववाद

हीगल ने निम्नलिखित तत्वों का प्रतिपादन किया था जिनका प्रभाव यूरोप की अर्थनीति व राजनीति के साथ साहित्य पर भी पड़ा—

(१) द्वन्द्ववाद कहता है कि प्रत्येक विकास परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष द्वारा उत्पन्न होता है। इसी से वर्गवाद की उत्पत्ति होती है।

(२) ऐतिहासिक सापेक्षवाद मानता है कि कानून, नीति, धर्म आदि कोई भिन्न वस्तु नहीं किन्तु युगानुसारी हैं।

(३) प्रगति की धारणा बतलाती है कि मानव-समाज प्रत्येक युग में पिछले युग से आगे ही बढ़ता जाता है।

(४) मानव समाज की प्रगति परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर हो रही है।

(५) मानव-सभ्यता के विभाग परस्पर सम्बन्धित हैं। हीगल के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने निम्नलिखित तत्व निकाले—

(क) सभ्यता एक समष्टि है।

(ख) अर्थ-व्यवस्था इस समष्टि की आधार-शिला है और सभ्यता, साहित्य तथा कला उसका ऊपरी ढाँचा है। अर्थ-व्यवस्था इन सबको प्रभावित और परिवर्तित करती रहती है।

(ग) वर्गवाद—समाज में वर्ग विशेष का प्रभुत्व रहता है और अन्य वर्गों से इसका संघर्ष चलता रहता है।

इन तीनों नये सिद्धान्तों का फल साहित्य पर पड़ा और निम्नलिखित तत्व निश्चित किये गये—

(१) साहित्य समाज की अन्य संस्थाओं से स्वतन्त्र नहीं रह सकता।

(२) साहित्य समाज की अर्थ-व्यवस्था का दर्पण है ।

(३) साहित्य वर्ग के हाथ में हथियार के समान है ।

पहली बात किसी हद तक मानी जा सकती है । साहित्य समाज अथवा राजनीति से सम्बन्धित रहे किन्तु उनका दास न बन जाय, यही अपेक्षित है । दूसरी बात भी उसी हद तक सच है कि साहित्य समाज की अन्य व्यवस्थाओं के समान अर्थ-व्यवस्था का भी दर्पण है । किन्तु उसे अर्थ-व्यवस्था का अनुगामी बना देना अनुचित होगा । तीसरा तत्व सबसे अधिक खतरनाक है । यदि साहित्य को किसी वर्ग विशेष का हथियार बना दिया गया तो वह सारे समाज के लिए वरदान बनने के बदले एक अभिशाप हो उठेगा ।

साहित्य को किसी भी व्यवस्था, संस्था अथवा वर्ग का दास या अनुगामी न होकर सबका प्रेरक और नेता होना चाहिए तभी वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकेगा ।

प्रतीकवाद—यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के विरोध में प्रतीकवाद का उदय हुआ । इसने शोपेनहावर तथा हीगेल के दर्शन को स्वीकार कर रहस्यवाद ही को कविता का प्रधान गुण माना है । विषय और रूप में अभेद स्थापित कर शब्द संकेत पर बल देकर अभिव्यक्ति का महत्व स्थापित किया है । बुद्धि और भावना दोनों का त्याग कर रोमांच को सब कुछ समझा गया तथा 'ध्वनि' और 'सुगन्धि' की सूक्ष्मता पर विचार किया गया है । छन्दों और वृत्तों के विभाग भग कर मुक्त वृत्त का प्रचार किया ।

इसके प्रस्थापकों में 'बोदलेयर', 'मेलामे' तथा 'बर्ले' मुख्य हैं ।

इसके फलस्वरूप कविता रूढ़िवाद से मुक्त होकर उसमें अतुल्य छन्दों का प्रयोग होने लगा । कविता और संगीत में सामंजस्य स्थापित हो गया तथा सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा हुई । इसमें स्पष्ट अभिव्यक्ति के बदले संकेतों से काम लेना प्रारम्भ हुआ ।

चक्रवाद—इसी समय यूरोप में सांस्कृतिक चक्रवाद (साइक्लिज्म) का उदय हुआ । जिसका प्रतिपादन 'पेंगलर', 'ट्वायनवो' तथा बरदाख

ने किया। मार्क्स आदि समाज की प्रगति को रेखाद्वारा मानते थे। कुछ विचारकों ने इसे चक्र रेखाकार माना और कुछ ने चक्रकार—इनके अनुसार इतिहास की इकाई राष्ट्र का युग नहीं किन्तु समाज या संस्थाएँ हैं। इनकी दृष्टि में मानव जाति एक पशुभेद विद्या (Biology) सम्बन्धी पद अथवा एक अर्थशून्य पद है। प्रत्येक संस्कृति का दर्शन विज्ञान तथा साहित्य अलग-अलग होता है। सत्य एक विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है। प्रत्येक साहित्य, संस्कृति विशेष का साहित्य है। संस्कृति को वे एक जीवित प्राणी मानकर चलते हैं तथा उसकी प्रगति भाग्यवाद के आधार पर मानते हैं। यही उनका सबसे बड़ा दोष है।

मानववाद—वर्गवादी तथा चक्रवादी आदर्श के विपरीत मानववादी दृष्टिकोण है जो कि मनुष्य को समग्रयुक्त और इकाई के रूप में मानता है। वह विभिन्न जातियों, वर्गों, धर्मों तथा देशों में बँटा हुआ मनुष्य नहीं किन्तु विश्वमानव है। प्राचीन साहित्य में धीरोदत्त मानव, महामानव या अतिमानव को साहित्य या काव्य का नायक माना गया था किन्तु वर्तमान युग की माग है—विश्वमानव, जनसाधारण, जो सभी देशों, कालों और विभागों में एक-सा है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी विश्वमानव को महामानव कहा है—

‘एई भारतेर महामानवेर सागरतीरे।’

पश्चिम के मानवतावाद को हम भौतिक मानववाद तथा भारतीय मानववाद को आध्यात्मिक मानववाद कह सकते हैं। पश्चिम का उद्देश्य मानव की भौतिक समस्याओं का हल कर ऐहिक कल्याण करना है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एक मात्र मनुष्य है।

अति यथार्थवाद—हीगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त से प्रेरित होने वाले साहित्यिकवादों में ‘अति यथार्थवाद’ प्रधान है। इस द्वन्द्वात्मक तर्क को कला के क्षेत्र में प्रयोग करना ही अति यथार्थवाद है। इसमें सौन्दर्यशास्त्र की सभी मान्यताओं का फिर से मूल्यांकन किया गया है। कला को बुद्धिवादियों ने एकान्त रूप से दौढ़िक बना दिया था। उसका विरोध कर इस वाद ने कला को कल्पनात्मक आधार पर स्थापित किया। भौतिकवाद में कला के रूप में

निरीश्वरवाद का प्रचार हो रहा है। उसी ने इस वाद को प्रेरणा दी। फ्रांस का आन्द्रे ब्रेतोँ इस आन्दोलन का जन्मदाता था। उसके बाद हार्वर्ट, रीड, सार्त्र, ज्यॉ पाल, ज्यॉ मार्टिन आदि ने इसका प्रचार किया। असल में स्वतन्त्रतावाद, जो कि १९वीं सदी में प्रचलित हो गया है, २०वीं सदी में 'अति यथार्थवाद' के रूप में बदलकर आया।

इन लोगों ने प्रतिपादित किया अबचेतन मन, स्वप्न और कविता में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तम काव्य तन्द्रा की अवस्था ही में रचे जा सकते हैं। वे अदृश्यतः चालित लेखन पर अधिक महत्व देते हैं जिसमें तत्काल और नैसर्गिक रूप से काव्य की अभिव्यक्ति होती है। वे नियति के स्थान पर साहस को महत्व देते हैं। किसी अति प्राकृतिक शक्ति के बदले वह स्वयं अपनी शक्ति पर विश्वास करते हैं। स्वच्छन्दतावादियों के समान वे भी कल्पना को महत्व देते हैं और कविता की प्रयोगात्मक शक्ति को मानते हैं।

आत्म-प्रेरणा—श्री अरविन्द की भी गणना अतिथार्थवादियों में की जाती है। वे अबचेतन को अवश्य मानते हैं पर उसके ऊपरी स्तरों पर ही संतुष्ट न होकर उसके गहरे तत्वों में प्रवेश करने का आग्रह करते हैं; योग द्वारा अन्तरतम प्रदेशों का अनुभव व्यक्त करते हैं। वे चेतना के ऊपर उठाने तथा अन्तःप्रेरणा प्राप्त करने का दावा करते हैं। चेतना के स्तर को ऊँचा उठाने से साहित्यिक रचना भी ऊँची होगी, उसमें उच्चतम सौन्दर्य लक्षित होगा और एक नया भाव पैदा होगा जिसको आन्तरिक रस कहते हैं। इससे समग्रता, पूर्णतर सौन्दर्य, गम्भीरता, प्रेरणा तथा अधिक सरसता उत्पन्न होगी।

उनकी दृष्टि में काव्य एक असीम सौन्दर्य जिज्ञासा है। सत्य ही उसका प्रधान क्षेत्र है। पर कवि सत्य को सौन्दर्य द्वारा खोजता है। कवि सत्य को उसके सौन्दर्य-प्रभाव के रूप में प्रकट करता है। पर वे चाहते हैं कि कवि सात्विक दृष्टि से सब सौन्दर्य को उसके उच्चतम रूप में देखे। भविष्य का कवि ऐसा ही करेगा ऐसा उनका विश्वास है। इस सौन्दर्य-दर्शन में केवल कल्पना नहीं होगी किन्तु सत्य का साक्षात् दर्शन भी होगा।

कविता के साधक रूप में वे छन्द की उपयोगिता को भी मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि उसकी योग्यता अध्ययन से नहीं किन्तु स्वयं ही आ जाती है।

बाहरी भाषा छन्द आदि की अपेक्षा आन्तरिक चेतना उनकी दृष्टि में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। काव्य-रचना के तीन प्रमुख अंगों में वे प्रेरणा, प्राण-शक्ति और बाह्य-रूप को मानते हैं। कवि की प्रेरणा अन्तस्तल से उठती है। प्राण-शक्ति उसे सृजन-शक्ति प्रदान करती है तथा बाह्य मन उसे रूप प्रदान करता है। ज्यों-ज्यों कवि इस अन्तःप्रेरणा, प्राण-देग तथा बाह्य-रूप को अधिकाधिक ग्रहण करेगा उसकी कविता अधिक रसमय, प्राणवान् और प्रभाव-शाली होगी। मानवता के भविष्य के समान काव्य के भविष्य रूप के सम्बन्ध में भी वे भविष्य-वक्ता के रूप में हमारे सामने आते हैं।

भाववाद—रूसी सौन्दर्य शास्त्र के विचारों के जन्मदाता बेलिन्स्की का भी साहित्यशास्त्र में बहुत महत्व है। उनके प्रचारित वाद को ‘भाव-वाद’ कहा जाता है। उनका कहना है कि यह अखंड, अनन्त, सुन्दर एवं दिव्य विश्व और कुछ नहीं केवल एक शाश्वत ‘भाव’ का स्वाशमात्र ही है जो स्वयं को अगणित रूपों में, अनन्त विभिन्नताओं के मध्य अविच्छिन्न, अद्वैत के रूप में प्रस्फुटित करता है।

उनकी दृष्टि में “कला, सत्य की आशु अवधारणा या चित्रात्मक अनुचिन्तन ही है।” इस व्याख्या में अपने भावमूलक कला तथा बुद्धि-मूलक अनुचिन्तन दोनों का मानों समन्वय किया है। कविता और दर्शन में विरोध मानते हुए भी उसने दोनों के लक्ष्यों की एकता स्वीकार की है। वह लक्ष्य है—दिव्यता की प्राप्ति। कविता अपनी अलौकिक शक्ति से सुन्दर भाव-चित्रों का उच्च संवेदनाओं से आत्मा को दिव्यता की ओर ले जाती है। दूसरी ओर दर्शन भी आत्मा और दिव्य लोक में सम्बन्ध स्थापित कर दिव्यता की ओर ले जाता है।

बेलिन्स्की की दृष्टि में भी विचार का उद्गम परम भाव है। इस भाव में स्वाभाविक रूप से विकसित होते रहने की प्राण-शक्ति रहती है। विचार

भावना के दो रूपों का अनुमान करता है अहम् और इदम् (आध्यात्मिक चेतना और बाह्य वस्तु)। इन दोनों परस्पर विरोधी तत्वों में भी घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। इसी के आधार पर वे कला को जनसाधारण की सेवा का लक्ष्य मानते हैं। हीगेल के मत के विपरीत उन्होंने कला का वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित किया है।

वेलिन्सकी के विचारों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसने द्वन्द्वात्मक भाववाद से भौतिक जनवाद तक की प्रगति कहा है।

कला और जीवन ✓

कला और जीवन में अभेद्य सम्बन्ध मानने वाले विचारक हैं आई० ए० रिचर्ड्स वे 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के घोर विरोधी हैं। इन्होंने इस मत की असत्यता सिद्ध की है कि कला हमारी सौन्दर्य-भावना को दबाती है। उसके अनुसार मनुष्य के मन में दो सबसे प्रबल वासनाएँ हैं—आकांक्षा और घृणा। साहित्य द्वारा हम इनको व्यवस्थित नहीं कर सकते हैं।

भाव और भाषा—उसने कला में दो मुख्य गुण माने हैं—मूल्य और प्रेषणीयता। हमें अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने की जो इच्छा रहती है वही प्रेषणीयता है। उसका उद्देश्य है दूसरों के मन में अपने मन के समान अवस्था उत्पन्न करना। इस कार्य के लिए सदा सुन्दर शब्द-योजना तथा छन्दोबद्ध कविता विशेष उपयोगी होती है। भावानुरूप भाषा का इसी-लिए बड़ा महत्व है। शब्दों के प्रतीकों में भाव-वहन की शक्ति होनी आवश्यक है। शब्द और अर्थ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। रिचर्ड्स ने चार प्रकार के अर्थों का वर्णन किया है :—

(१) विषय की परिचायिका शब्द-शक्ति (Sense)।

(२) विषय के प्रति कवि की चेष्टा (Feeling)।

(३) पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा (Tone)।

(४) लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय (Intention)।

उत्तम काव्य वही है जिसमें इन चारों का समन्वय मिले। उन्हीं के आधार पर समालोचना-सिद्धान्त निश्चय किये जाने चाहिए, ऐसा उनका मत है।

सचेतना और जागरूकता—टी० एस० इलियट ने वाल्टर के 'कला कला के लिए' वाले निरपेक्ष सौन्दर्यवाद का भी विरोध किया और अर्नोल्ड के बौद्धिक आनन्दवाद का भी। उसने बुद्धि और भावना के संतुलित संयोग को स्थापित किया तथा प्राचीन कलाकृतियों के अध्ययन की आवश्यकता बतलायी। साहित्य या काव्य के मूल्य-निर्धारण के लिए उसने उन्मेष पर जोर दिया। ऐतिहासिक जागरूकता या अतीत की सचेतन जागरूकता ही के द्वारा साहित्य का आनन्द उपलब्ध हो सकता है। उसने कलाकार के अनुभव को विस्तृत करने पर भी जोर दिया है। कलाकार के व्यक्तित्व को महत्व देते हुए उसने आत्म-प्रत्यक्षण की आवश्यकता बतलायी है।

निर्वैयक्तिक कला—इलियट का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—निर्वैयक्तिक कला। इसमें कवि अपनी आत्मनिष्ठ संकीर्णता छोड़कर लोक-जीवन की ओर बढ़ता है। वह तटस्थता और निर्विकल्पता के साथ अपनी आत्मा की अभिव्यंजना करता चला जाता है, वह अपने क्षणिक संवेगों को दबाकर एक महत्तर व्यक्तित्व को पाने के लिए बढ़ता चला जाता है। कलाकार की प्रगति उसके निरन्तर आत्मत्याग तथा व्यक्तित्व-निलय में है।

बुद्धि और भावना का संतुलित संयोग—इलियट के अनुसार काव्य हमें व्यक्तिगत सम्बन्ध के ऊपर एक अधिक व्यापक भावभूमि की ओर ले जाता है। कवि अपने व्यक्तित्व में भाव और संतोष दोनों को मिलाकर एक तीसरी कला को जन्म देता है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की वह कड़ी आलोचना इसलिए करता है कि वे अपने व्यक्तित्व का उचित नियमन नहीं कर पाते और बुद्धि तथा भावना की एकता खंडित हो जाने से उनमें केवल भावों का कुहरा शेष रह जाता है। कविता उसके लिए न केवल दर्शन है और न चिन्तन किन्तु वह एक स्वतन्त्र रागात्मक क्रिया है। श्रेष्ठ कवि बुद्धि को अनुभूति द्वारा ग्रहण करता है। वह अपनी कविता में अपने को खोकर संकीर्णता से परे हो जाता है। तभी उसका पाठक भी कलाकृति के आनन्द में तन्मय होकर आग्रहयुक्त निलम्बन (Suspense) की दशा में पहुँच जाता है।

वस्तुमूलक प्रतिरूपता—इलियट का कथन है कि कवि को अपने मनोवेगों की एकता पर दृष्टि रखनी चाहिए। वह बाह्य जगत् से चुनकर कुछ वस्तुओं को खास परिस्थितियों की शृंखला में संगठित करता है जो हमारे अन्तः के वेगों को व्यक्त करने का सूत्र बन जाती हैं। इसमें अनुभूतियों का सीधा कथन न कर उन्हें सुनिश्चित घटना-प्रसंगों और अर्थ-व्यापारों के साथ कहा जाता है। कवि भावों का प्रत्यक्ष निरूपण न कर अपनी सामग्री को तदनुकूल प्रसंग में नियोजित करता है।

यह 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' का सिद्धान्त है।

इलियट के समीक्षा-सिद्धान्त वर्तमान काल में सबसे अधिक युक्तियुक्त माने जाते हैं।

द्वितीय भाग

आलोचना का विकास

प्रथम अध्याय

साहित्य ज्ञान का साधन है

प्रारम्भ काल में मनुष्य अपना अनुभव प्रत्यक्ष वस्तुओं द्वारा ग्रहण करता था किन्तु अब वह दूसरे मनुष्यों की संवेदनाओं द्वारा ग्रहण करता है। संवेदनाएँ परम्परा-साहित्य और कला के द्वारा हमारे पास आती हैं। इस प्रकार साहित्य मनुष्य के जीवन का एक प्रधान अंग बन गया है और उसका महत्व बढ़ता ही जा रहा है। किन्तु साहित्य के उस गुण के प्रगट होने से पहिले भी साहित्य का अस्तित्व तो था ही। जब से साहित्य की मनुष्य जीवन को प्रभावित करने वाली इस विशेषता का पता लगा, तभी से आलोचना का आरम्भ हुआ। प्लेटो के विचारात्मक दर्शन ने इसे बहुत उत्तेजना दी। प्लेटो ने शक्ति की खोज करते-करते यह सत्य खोज निकाला कि मनुष्य अपने मत और आचरण के नियम साहित्य के ज्ञान और जीवन के अनुभवों पर आधारित करता है। उसने अनुभव किया कि साहित्य ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा युवक इस संसार का परिचय प्राप्त करते हैं और जनसाधारण अपने पूर्वजों के ज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसी कारण उसने अपनी नीति-नियमों के निर्धारण में साहित्य के विषयों और उसके रूपों का आधार लिया।

‘जोवेट’ (Jowett) आदि लेखकों ने प्लेटो के मत की आलोचना भी की है और प्रशंसा भी। प्लेटो के लेखों से कला और साहित्य विकास के मूलभूत सिद्धान्तों का भी पता लगता है और कला की रूपरेखा सम्बन्धी भ्रमों और मर्यादाओं का भी ज्ञान होता है।

‘प्लेटो’ और ‘अरस्तू’ के आलोचना सम्बन्धी विचारों में काफ़ी मतभेद है। प्लेटो आदर्शवादी है और उनसे मनुष्य के जीवन के अध्ययन को ध्यान

में रखते हुए साहित्य और कला के सिद्धान्तों की आलोचना की है। 'अरस्तू' यथार्थवादी है और उसने अपने सामने आई हुई साहित्य-सामग्री ही पर आलोचना का आधार रखा है। 'प्लेटो' ने कला और साहित्य की आलोचना को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए साधन-पात्र बनाया है। उसने कविता और कला के संदेश को अपने दर्शन के संदेश से एक मत करने के लिए आलोचना का उपयोग किया है। सत्य तक पहुँचने के प्रयत्न ही में उसकी सारी मानसिक शक्ति लगी हुई थी और कला तथा साहित्य की आलोचना करते समय भी वह उसी उद्देश्य को सामने रखता है। यहाँ तक कि सौन्दर्य आनन्द का ग्रहण भी गौण हो जाता है और वह 'कला के सत्य' और 'प्रकृति के सत्य' में भी कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। उसके लिए कला केवल एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्यों को दर्शन का सत्य हृदयंगम कराया जा सकता है और इसी उद्देश्य को पूर्ति को उसने आलोचना का लक्ष्य बनाया।

'अरस्तू' की आलोचना इस प्रकार के किसी नैतिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं थी। उसकी दृष्टि में आलोचना, एक बिल्कुल स्वतन्त्र विषय है। अपनी पुस्तक 'एथिक्स (नीति)' में वह कहता है कि कला क्रियात्मक शक्ति और विवेक के सम्मिलन से उत्पन्न होती है और अपनी दूसरी पुस्तक 'पोयेटिक्स' (काव्यकला) में उसने सिद्ध किया है कि क्रियात्मक शक्ति का उद्भव मनुष्य की अनुकरण प्रवृत्ति से होता है। वह यह भी बतलाता है कि बौद्धिक प्रयत्नों की अपेक्षा कला के फल बिल्कुल भिन्न होते हैं।

प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' (प्रजातन्त्र) में कला के उद्देश्यों का विवेचन किया है। दोनों की तुलना करने पर जान पड़ता है कि अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पोयेटिक्स' में कला के उद्भव और उसकी प्रणालियों पर जो विचार प्रगट किये हैं वे मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र में प्लेटो की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए हैं। किन्तु प्लेटो ने कल्पना सम्बन्धी जिस नये तत्व का प्रयोग किया है वह कला के अधिक समीप होने के कारण अन्तरतम तक प्रवेश करने में अधिक समर्थ हुआ है। उसने इसके आधार पर जिन सत्यों का उद्घाटन किया है वे अधिक महत्वपूर्ण हैं और 'अरस्तू' की सीमित खोजों की

अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी कारण अरस्तू द्वारा निर्धारित नियम क्रम-क्रम से बदले जा चुके हैं किन्तु प्लेटो के सिद्धान्त, कला और साहित्य सम्बन्धी आधुनिकतम विचारों से समरस हैं।

इस समय साहित्य और कला केवल थोड़े से लोगों की सम्पत्ति न रहकर सारे सभ्य जन-समाज के जीवन का अंग बन गई है। 'प्लेटो' द्वारा निर्धारित साहित्य के आदर्श, सर्वोच्च विचार और सर्वोच्च आचरण से एकरूप हो जाते हैं। उनकी प्राप्ति असम्भव नहीं मानी जा सकती, वरन् वह साहित्य के विकास में एक स्वाभाविक बात हो जाती है। यह बात अवश्य है कि 'अरस्तू' ने जिन कला सम्बन्धी नियमों का निर्धारण किया था उन्हीं का आधार लेकर 'प्लेटो' ने अपने विचारों का विस्तार किया है। उदाहरण के लिए 'अरस्तू' ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया था कि कवि द्वारा चित्रित चरित्रों और वर्णित घटनाओं में समानता होनी चाहिए। इसी को आगे बढ़ाकर 'प्लेटो' का कथन है कि वक्ता को अपने कथन के सत्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब वह काव्य में वर्णित घटनाओं का पूरा ध्यान रखे। 'अरस्तू' ने दुःखान्त नाटक में कथावस्तु के महत्व पर बहुत जोर दिया है। 'प्लेटो' भी इसी सिद्धान्त का समर्थक है। किन्तु ये बातें उतनी महत्वपूर्ण नहीं। हमें 'प्लेटो' की आलोचना में जिन महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना है वे ये हैं—(१) उसकी आदर्शवादी प्रणाली से निकलने वाले गहन सिद्धान्तों का स्वरूप। (२) उन सिद्धान्तों का कला और कविता में प्रयोग। पहली बात प्लेटो के सिद्धान्तों में सब से महत्वपूर्ण और स्थायी है। किन्तु दूसरी बात में उसका मत कुछ भ्रमपूर्ण है और उस विषय में हमें 'अरस्तू' के सिद्धान्तों के महत्व को स्वीकार करना पड़ता है। प्लेटो के महत्वपूर्ण विचार तीन सिद्धान्तों के रूप में विभक्त किये जा सकते हैं जो एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं—

(१) साहित्य में काव्य के बाह्य रूप (form) की अपेक्षा उसका आन्तरिक विचार (thought) अधिक महत्वपूर्ण है।

(२) कला की महानता कलाकार की नैतिकता पर ही निर्भर है।

(३) कला और नीति का परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध है। एक ओर कलाकार का चरित्र उसकी कृति में प्रगट होता है और दूसरी ओर उसकी कृति का प्रभाव कलाकार के चरित्र पर पड़ता है।

कला और नीति का एक दूसरे पर आश्रित होने का सिद्धान्त 'लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' के तीसरे भाग में अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। आदर्श प्रजातन्त्र में किस प्रकार के साहित्य और कला को स्थान दिया जा सकता है इस बात पर विचार करते हुए उसने निर्णय दिया है कि कोई वस्तु उसी मात्रा में सुन्दर कही जा सकती है जिस मात्रा में वह नैतिकता को प्रकाशित करे। उसका कथन है कि काव्य के विचार, उसके रूप, उसके छन्द आदि का सम्बन्ध उसमें वर्णित चरित्र की उच्चता से है। चरित्र की उच्चता की छाप चित्रकला और स्थापत्य आदि ललित कलाओं ही पर नहीं बरन् बुनाई आदि अर्थकरी कलाओं पर भी पड़ती है। इसी प्रकार के काव्य के छन्द, रूप सामंजस्य आदि ग्रंथ भी विचार और चरित्र के गुण-दोषों से सम्बन्ध रखते हैं। कला की उच्चता आत्म-संयम और नैतिक उत्कृष्टता ही पर निर्भर है। यथार्थ में वह चारित्रिक उच्चता ही का प्रकाशन है।

“नैतिकता का माप-दण्ड केवल कवियों ही पर नहीं बरन् सभी कलाकारों पर प्रयुक्त होना चाहिए। हमें इस बात का प्रबन्ध रखना चाहिए कि कलाकार, नीति-भ्रष्टता या कुरुचि को अपनी कला-कृतियों में प्रगट न करने पावे और जनता पर उनका कुफल न पड़े। उसके बदले हमें ऐसे कलाकारों को उत्तेजना देनी चाहिए जो अपनी नैतिकता को कला के सौन्दर्य और पूर्णता में प्रगट करें, जिससे कि हमारी तरुण पीढ़ी उनसे प्रभावित हो सके। यह स्वयं सौन्दर्य और नीति का वातावरण स्वास्थ्यप्रद वायु के समान अज्ञात रूप से बचपन से लेकर उन्हें सत्य की आत्मा से परिचित कराकर आत्मा के प्रेम की ओर प्रेरित करेगा। ('रिपब्लिक' पृष्ठ ४००) यह प्रतिबन्ध कला की स्वतन्त्रता में किसी हद तक बाधक हो सकता है। अपनी मनमानी रचना करने वाले कवि और इच्छानुसार चित्र या मूर्ति-निर्माण करने वाले कलाकार के लिए 'लेटो के प्रजातन्त्र में कोई स्थान नहीं। उनकी प्रतिभा को सम्मान देते

हुए भी वह उनसे अपने आदर्श के अनुसार कृतियों उत्पन्न करने को बाध्य करना चाहता है। क्योंकि उसका उद्देश्य आनन्द की अपेक्षा हितसाधन करना ही अधिक है। उसे तो अधिक संयमशील कवि ही पसन्द है (चाहे वह कम आनन्ददायक ही क्यों न हो) जो कि नीति को अपना आदर्श माने और अपनी कविता का शिक्षाप्रद ढांचे में ढाल सके। प्लेटो ने होमर सरीखे महाकवियों को भी इस नैतिकता की कसौटी पर कसा है। होमर के चरित्र नायक देवताओं और वीरों के नीति विरुद्ध आचरण सम्बन्धी बहुत से उदाहरणों को चुनकर उसने उनकी कड़ी आलोचना की है और उन्हें श्रोताओं के लिए नैतिक दृष्टि से हानिकारक बतलाया है। केवल होमर पर ही नहीं किन्तु सभी कवियों और लेखकों पर वह अनैतिकता का आरोप लगाता है। वह कहता है 'कवि' और गद्य लेखक मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी भारी गलती करते हैं। वे हमें यह बतलाते हैं कि बुराई करने वाले सुख भोगते हैं और धर्मात्मा लोग दुःख उठाते हैं, अन्याय से लाभ होता है और ईमानदारी से (चाहे दूसरे को लाभ हो) किन्तु अपने को हानि ही होती है।"

—'रिपब्लिक' पृष्ठ ३६८

यहाँ तक तो प्लेटो की काव्य विषय सम्बन्धी आलोचना हुई। उसके मत में कलाकार को नैतिकता का प्रकाशक होना चाहिए। वह देखता है कि कविता नैतिकता का प्रकाश करने के बदले नीति विरुद्ध विचारों का साधन बन गई है। उसके बाद वह केवल काव्य के विषय ही की निन्दा नहीं करता अपितु उसके रूप और साधनों की भी भर्त्सना करता है। वह कविता के विरुद्ध दो प्रधान आरोप करता है—

(१) वह वास्तविकता से दूर है, (२) बौद्धिक विचारों के बदले वह मनुष्यों में भावनाप्रधान प्रवृत्ति ही जागृत करता है।

किन्तु इस पर विचार करने के पहले यह देखना जरूरी है कि वह अरस्तू से इस बात में कहाँ तक सहमत है कि अनुकरण ही कविता का आधार है। दोनों के मतों में यही अन्तर है कि अरस्तू सभी प्रकार के क्रियात्मक साहित्य को अनुकरण पर आधारित मानता है, किन्तु प्लेटो केवल उतने ही

साहित्य को अनुकरण पर आधारित मानता है जितना कि किसी पात्र के चरित्र से प्रगट होता है। संक्षेप में इन दोनों का अन्तर उतना ही है जितना कि अनुकरण (imitation) और प्रगटीकरण (reproduction) में है। यदि अरस्तू प्रथम का उपासक है तो प्लेटो दूसरे का।

अब हम प्लेटो द्वारा कविता पर लगाये गये आक्षेपों पर विचार करेंगे। उसका पहला आक्षेप अवास्तविकता सम्बन्धी है। उसकी सम्मति में कवि ईश्वर के समान न तो किसी वस्तु का सृष्टा है और न कारीगर के समान उसका निर्माता, किन्तु उसकी कृतियों का अनुकर्त्ता मात्र है। इस प्रकार उसका कार्य ईश्वर की सृष्टि से दो दर्जे नीचा है। यदि कवि जिस सत्य का वर्णन करता है उसे सचमुच में अनुभव करता है तो उसे दूसरों के ज्ञान को केवल प्रगट (Reproduce) करने के बदले उस ज्ञान का उसे क्रियात्मक प्रयोग करके बतलाना चाहिए। उस सिद्धान्त के अनुसार वह 'होमर' तक से वह यह प्रश्न पूछता है यदि आप सत्य से दो दर्जे नीचे नहीं हैं तो यह बतलाइये कि काव्य में वर्णित आदर्शों के अनुसार क्या किसी नगर या देश ने अपना शासन-विधान निर्माण किया है? विचारा होमर इस परीक्षा में असफल हुए बिना नहीं रहेगा। उसकी बेवसी को देखकर प्लेटो सारे कवियों पर यह आक्षेप लगा देता है कि वे सभी सत्य के भूत के पीछे चलने वाले हैं और किसी को भी सत्य का प्रत्यक्ष परिचय नहीं हुआ है। इस प्रकार उसकी सम्मति में काव्य वास्तविकता से दूर होने के कारण व्यवहारिक काम के लिए बिल्कुल बेकाम हैं।

उसका दूसरा आक्षेप यह है कि कविता विचारोत्तेजक होने के बदले भावोत्तेजक है। इस आक्षेप पर विचार करने के पहिले प्लेटो की सम्मति में कविता या साहित्य का क्या उद्देश्य है, यह समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य कुछ कर्म इच्छा से करता है और कुछ केवल प्रवृत्ति के अनुसार। वह अपने सौभाग्य या दुर्भाग्य का कारण इन्हीं कर्मों को समझता है और उसी में सुख या दुःख मानता है, किन्तु कवि मनुष्यों के कर्मों को चित्रित करते समय सदाचरण के बदले दुराचरण ही का प्रदर्शन करता है। उसे अपनी कला की आवश्यकताओं के कारण ऐसा करना पड़ता है। बात यह है कि

उग्र प्रकृति का प्रदर्शन एक-सा और विविध प्रकार से किया जा सकता है किन्तु बुद्धियुक्त और शान्त प्रकृति का चित्रण न तो सरलता से किया जा सकता है और न सरलता से समझा ही जा सकता है क्योंकि उसमें बहुत परिवर्तन होते हैं। दूसरे एक चित्रकार की तरह कवि भी अपने ही समान निम्न प्रकृति को पसन्द करता है वह आत्मा की सर्वोच्च प्रकृति को नहीं चाहता। इसी निम्न कोटि के चरित्र के प्रदर्शन के कारण प्लेटो कवि पर वह दोष लगता है कि कविता अच्छे से अच्छे मनुष्यों के लिए भी हानिकारक सिद्ध होती है।

इस हानिकारक प्रभाव के प्रकट होने का कारण वह भय और दया की भावना ही को मानता है जो कि कल्पित चरित्रों पर विपत्ति पड़ने के दृश्यों को देखने से उत्पन्न होती है। इसी को अरस्तू नाटक का मुख्य कार्य मानता है। वह कहता है कि “मनुष्य दुःख और भय से कुछ सन्तोष पाता है, क्योंकि वे स्वयं अपनी विपत्ति में उसकी आत्मा को दबा रखते हैं। इन्हीं भावनाओं को कवि उत्तेजित करता है और जो मनुष्य में उच्च भावनाएँ हैं उन पर से भावनाएँ (असीमित होने के कारण) प्रभुत्व प्राप्त कर लेती हैं। कवि समझने लगता है कि दुःख-दर्द उसकी आत्मा के अंग नहीं हैं और इसलिए दूसरे के दुःख-दर्दों की प्रशंसा करना या उनके साथ संवेदना प्रकट करना कोई लज्जा की बात नहीं है। इसके विरुद्ध इनके वर्णन से वह एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। बहुत कम मनुष्य ऐसे हैं कि जिस हद तक हम दूसरों की भावनाओं से संवेदना रखते हैं उसी हद तक हमारी भावनाएँ भी प्रभावित होती हैं। यथार्थ में दूसरों के दुःखों से यदि हमारी करुण भावना अभिभूत होने लगती है तो स्वयं अपने पर दुःख पड़ने पर भी धैर्य रखना कठिन हो जाता है।

यही बात प्रेम, कोप, दुःख और सुख के लिए भी लागू होती है, क्योंकि प्लेटो के शब्दों में, कविता कामनाओं को मिटाने के बदले उनको प्रधानता देती है।

प्लेटो के इन उग्र विचारों को बनाने में ग्रीक कविता और कवि भी

किसी हद तक जिम्मेदार हैं। ग्रीक कविता और नाटक जिस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए लिखे जाते थे उन्हें भी ध्यान में रखना आवश्यक है। उस समय के समाज में कवि और नाटककार को वे सब काम करने पड़ते थे जो आजकल धर्मोपदेशक, पत्र, रंगमंच और साहित्य करते हैं। यदि प्लेटो कवि से उच्च नैतिकता की अपेक्षा रखता है तो उसके लिए उस समय की परिस्थिति ही जिम्मेदार है। यह बात नहीं थी कि उसमें कविता का प्रेम न हो। उसमें सूक्ष्म दृष्टि और उग्र भावना विद्यमान थी। कविता के गुण-दोषों पर विचार करते समय उसको यह उग्र भावना ही रूपर आ जाती थी किन्तु इसके भीतर भी उसके हृदय की कोमलता का अनुभव किया जा सकता है। उसका उद्देश्य केवल यह था कि यदि कविता को आनन्द-प्रदान के साथ ही साथ कर्तव्य-भावना जागृत करने का साधन बनाया जा सके तो संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है।

किन्तु उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि कवियों के गुणों की ओर देखने और उन्हें समझने का उसने प्रयत्न नहीं किया। केवल दोषों ही की तरफ उसकी अधिक दृष्टि रही। कवियों द्वारा चित्रित चरित्रों की कायरता, धोखेबाजी तथा नाटकों में अतिशयोक्ति और भाव-प्रवणता ही की ओर उसकी दृष्टि गई। काव्य की शैली के सौन्दर्य और उसकी प्रौढ़ता जो ग्रीक साहित्य के अंग हैं इनकी ओर दृष्टि न जाना प्लेटो के लिए स्वाभाविक हो सकता था। किन्तु 'एकीलीस' की अर्थ-प्रकाशन-शक्ति और 'सोफोक्लीज़' के गीत-माधुर्य अथवा 'ओडेसस' की हृदयद्रावक कारुणिकता के महत्व को भुला देना किसी प्रकार क्षतव्य नहीं। नाटकों में भी कर्म-विपाक के सिद्धान्तों अथवा होमर द्वारा चित्रित 'नासिका' के निष्पाप चरित्र और 'पैनीलोप' के सतीत्व सरीखी विशेषताओं की ओर दुर्लक्ष करना उनके लिए उचित नहीं था।

इतना होने पर भी प्लेटो का साहित्य सम्बन्धी आदर्श जिससे कि उसने काव्य को भी दर्शन की उच्चता पर पहुँचा दिया, अरस्तू के आदर्श की अपेक्षा कहीं उच्च आदर्श है और वर्तमान समय के आदर्श के भी अनुकूल है। समझ में नहीं आता कि उसने, दर्शन के आध्यात्मिक उपदेशों से कल्पनात्मक

तर्क का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसको समझने में क्यों उपेक्षा की ? शायद उसके लिए भी उस समय के ग्रीस का सामाजिक जीवन ही जिम्मेदार था, जिसमें शारीरिक जीवन ही को मनुष्य-जीवन का प्रतिबिम्ब-ध्येय समझा जाता था, और इसी जीवन का प्रतिबिम्ब उस समय के काव्य पर पड़ा था । इसी का प्रभाव उसके विचारों पर ऐसा पड़ा कि उसने कला के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणा बना ली और उसके विरुद्ध उसने अवास्तविकता का आरोप लगा दिया । उसने यह समझ लिया कि काव्य और कला भी केवल पार्थिव जीवन का अनुकरण मात्र है और इस कारण उनमें भी मनुष्य-जीवन के साधारण कोटि के विचारों ही का प्रतिबिम्ब पड़ता है । उसने यह भी मान लिया कि कवि का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण केवल पार्थिव है । उसका निजी दृष्टिकोण आध्यात्मिक था । उसकी कसौटी पर कसने से वे फीके उतरे । सक्षेप में प्लेटो ने कला और साहित्य को ज्ञान का साधन समझा और उनके तरीकों को भी अपने दृष्टिकोण ही के समान बनाना चाहा । यह अरस्तू ही का काम था कि उसने कला के तरीकों और तर्क के तरीकों में अन्तर बतलाया और संसार की सत्यता तथा उनके आधार पर निर्मित कला-कृतियों में कितना साम्य होना चाहिए इस बात का विवेचन किया । उसके मत की आलोचना हम अगले अध्याय में करेंगे ।

द्वितीय अध्याय

साहित्य : कला का अंग

काव्य और नाटक

अरस्तू ने कविता को नीति के क्षेत्र से अलग करके उसे कला का एक अंग माना है। अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में कला के विषय में विचार प्रगट करते हुए कहा है कि कला क्रियात्मक शक्ति और तर्क का सम्मिश्रण है। उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'पोयटिक्स' में इन दोनों बातों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। मनुष्य में आदि-काल ही से अनुकरण की प्रवृत्ति रहती है। यही प्रवृत्ति कला आदि के रूप में प्रगट होती है। इस बात में प्लेटो और अरस्तू दोनों एक मत हैं। अरस्तू की विशेषता यह है कि वह इस प्रवृत्ति को (जिज्ञासा के प्रेम) से बिल्कुल भिन्न मानता है। दूसरे वह काव्य की प्रणाली और इतिहास और काव्य दोनों ही का उपयोग करता है। उसकी सम्मति में इतिहास के समान काव्य भी बिना छंद और संगीत की सहायता के लिखा जा सकता है। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। इतिहासकार केवल यह बतलाता है कि पूर्वकाल में कैसी घटनाएँ घट चुकी हैं—कवि यह नहीं बतलाता कि पहिले क्या हो चुका है वरन् बताता है क्या हो सकता था और क्या होना सम्भव है। यह बात वह पूर्व-काल की घटनाओं के सम्बन्ध से अथवा उनकी सम्भाव्यता के आधार पर बतला सकता है। यही दोनों में अन्तर है, और इसीलिए काव्य का सत्य इतिहास की अपेक्षा विस्तृत और उसका लक्ष्य भी उच्चतर है, क्योंकि काव्य विश्वव्यापी सत्य का निर्देश करता है जबकि इतिहास केवल विशेष सत्य की ओर लक्ष्य करता है।

नाटक की घटनाओं और संवादों में भेद बतलाते हुए वह कहता है कि घटनाओं का फल बिना किसी तर्क के स्पष्ट रहता है और संवाद का प्रभाव

पात्रों और उनके भाषणों से स्पष्ट होता है। अर्थात् उनका प्रभाव वक्तव्य-कला पर अधिक निर्भर है।

प्लेटो ने कविता पर जो असत्यता का आरोप लगाया है उसका उत्तर देते हुए अरस्तू कहता है—अन्य कलाकारों के समान कवि भी एक अनुकर्ता (Imitator) है। वह तीन विषयों को पुनः व्यक्त करता है—

१. वे यथार्थ में जिस प्रकार के हैं।
२. वे जिस प्रकार के दीखते हैं।
३. वे जिस प्रकार के होने चाहिएँ।

आगे चलकर वह कहता है कि काव्य और राजनीति में लक्ष्य के माप-दण्ड भिन्न-भिन्न होते हैं। काव्य के अनुसार काव्य-प्रणाली में अविश्वसनीय सम्भावना की अपेक्षा विश्वसनीय असंभावना श्रेष्ठतर है।

नाटक—प्लेटो का दूसरा आरोप यह है कि कविता अतार्किक और भावनाप्रधान प्रवृत्ति को उत्तेजित करती है और उच्चतर मानसिक भावना को दबाती है। इसके उत्तर में अरस्तू वियोगान्तक नाटक का उदाहरण देकर कहता है—“नाटक एक बहुत गहन और परिपूर्ण कृति का अनुकरण है। उसमें काव्य के समान घटना के वर्णन के बदले उसका प्रत्यक्ष अभिनय होता है और वह हमारी भावनाओं को शुद्ध करने के लिए करुणा और भय के साधनों का प्रयोग करता है।” तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शस्त्र-चिकित्सा से शरीर के विकार बाहर निकलते हैं उसी प्रकार दुःखान्त नाटक में दर्शकों के हृदयों में भरी हुई करुणा-भावना बाहर निकाली जाती है और इससे उसका मन हलका हो जाता है। यह कार्य करुणा-भावना को कृत्रिम रूप से उत्तेजित करके किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य की भावनाप्रधान प्रवृत्ति को गतिशील करना ही काव्य-कला का मुख्य कार्य है और इसलिए भावनाओं को स्पर्श करना मनुष्य के लिए हानिकारक न होकर लाभदायक ही है।

कविता को कला का अंग सिद्ध करने के लिए वह अनुकरण की प्रणालियों की ओर निर्देश करता है जो कि कविता और अन्य कलाओं में समान रूप से पाई जाती है। दुःखान्त नाटक को भी काव्य-कला का एक

अंग मानते हुए वह इन प्रणालियों का प्रयोग उसमें भी करता है उसके अनुसार नाटक छः भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) विचार-प्रगटीकरण की शैली, (४) भावना, (५) रंगमंच और (६) संगीत। इन सब में कथावस्तु नाटक की आत्मा, उसका लक्ष्य और केन्द्र-स्थल माना जा सकता है। कवि या नाटककार में अपने काव्य या नाटक का विषय चुनने की योग्यता होनी चाहिए। अर्थात् उसे यह समझना चाहिए कि मानव-जीवन का कौन सा अंग कलात्मक ढंग से नाटक या काव्य में वर्णित हो सकता है। इसे दृष्टि में रखकर अरस्तू ने नाटक के लिए उपयुक्त विषय के सम्बन्ध में कुछ नियमों और सूत्रों का निर्धारण किया है। उनमें विषय की एकता सबसे प्रधान है। कहा जा चुका है कि नाटक मनुष्य की किसी कृति का एक अनुकरणमात्र है इसलिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस अनुकरण का विषय भी एक ही हो और उससे सम्बन्ध रखने वाली घटनाएँ भी उस एक ही विषय से सम्बन्धित हों। एकता की कसौटी यह है कि कोई भी घटना ऐसी न हो जिसके अलग कर देने से मुख्य विषय ज्यों का त्यों बना रहे। साथ ही नाटक में भय और करुणा की तीव्र भावनाओं का रहना भी परमावश्यक है। इन भावनाओं की उत्तेजना के लिए नाटक में भाग्य के अचानक उत्थान-पतन की योजना आवश्यक हो जाती है और वह भी इस प्रकार से कि दर्शकों की संवेदना जागृत हो जाय।

यह भाग्य-परिवर्तन न तो सत्पुरुष का सद्भाग्य से दुर्भाग्य की ओर हो (क्योंकि इससे भय या करुणा के संचार के बदले निराशा का संचार होता है) और न असत्पुरुष का भाग्योदय दुर्भाग्य से सौभाग्य की ओर हो, क्योंकि यह दुःखान्त नाटक के आदर्श से बहुत दूर है और इसमें संवेदना, करुणा या भय किसी का उदय नहीं होता। फिर यदि एक नीच मनुष्य सौभाग्य के शिखर से दुर्भाग्य के गर्त में गिर पड़ा तो भी हमारे हृदय में करुणा या भय का संचार न होगा। करुणा का उदय तो तब होता है जब किसी ऐसे व्यक्ति पर दुर्भाग्य का पहाड़ टूट पड़े जो कि उसके बिल्कुल ही योग्य नहीं है। उसके दुर्भाग्य से हमें करुणा इसलिए उत्पन्न होती है कि उस पुरुष पर दुर्भाग्य पड़ना न्यायोचित

नहीं है, और भय इसलिए उत्पन्न होता है कि जो पुरुष उस दुर्भाग्य में पड़ता है वह हमारे ही समान है। ऐसी भावनाएँ हमारी ही कोटि के पात्र के सम्बन्ध में उत्पन्न हो सकती हैं जो कि न तो बहुत बड़ा धर्मात्मा है और न दुरात्मा ही है। ऐसे पुरुष पर अपनी सम्पत्ति या यश के शिखर पर होते समय किसी दोष के कारण आपत्ति पड़ जाती है तब हमारी सहानुभूति एकदम उदय हो जाती है और हम में भय का संचार भी होता है कि कहीं इसी प्रकार की विपत्ति हम पर भी न आ पड़े।

इसके बाद अरस्तू कथावस्तु को सरल और मिश्रित (Complicated) एकाकी और द्वैत (Double) में विभाजित करता है। साथ ही वह कथावस्तु में 'क्रांति' (Revolution) परिचय (Recognition) विकास (Development) और समाधान (Solution) आदि की विवेचना करता है। वह घटनाओं के विस्तार, मूल घटना से उनके सम्बन्ध तथा रचना की प्रणालियों पर भी प्रकाश डालता है। इन विषयों का विस्तार अनावश्यक होने के कारण उनकी यहाँ चर्चा नहीं की गई।

अब नाटक के दूसरे अंगों के विषय में कथावस्तु के बाद चरित्र का नम्र आता है। 'अरस्तू' की सम्मति में चरित्र का प्रकटीकरण तभी होता है जब उनके संवादों या क्रियाओं से कोई खास सिद्धान्त प्रगट हो। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार चरित्र को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। चरित्र की उत्तमता के लिए उसने चार बातें आवश्यक बताई हैं—(१) चरित्र अच्छा हो, अर्थात् दूसरे चरित्रों की तुलना में अच्छा हो, (२) वह कथावस्तु के उपयुक्त हो, (३) वह आदर्श (Typical) हो और (४) उसका आरम्भ से अन्त तक एक समान निर्वाह हो।

तीसरे उपकरण 'शैली' की चर्चा करते हुए अरस्तू उपमा और रूपक को उन्हीं के अन्तर्गत समझकर विवेचना करता है। अप्रचलित शब्दों का किस हद तक प्रयोग करना चाहिए तथा कवि को कहाँ तक स्वच्छन्दता का प्रयोग करना चाहिए, इस पर भी वह प्रकाश डालता है। शब्दों और भाषा

को बहुत महत्व देता है। इसी प्रकार उपमा और रूपक को भी वह नाट्यकला का महत्वपूर्ण साधन मानता है।

✓ चौथे उपकरण 'भावना' के सम्बन्ध में उसका कथन है कि क्रुणा, भय, क्रोध आदि भावनाओं की उत्तेजना के लिए स्वयं नाटककार में भावना होना परम आवश्यक है।

रंगमंच के सम्बन्ध में अरस्तू ने बहुत कम लिखा है, किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह बहुत महत्वपूर्ण है। क्रुणा और भय की भावनाएँ केवल रंगमंच के दृश्यों और प्रबन्धों से भी उत्तेजित की जा सकती थीं। किन्तु इस उपाय को वह पसन्द नहीं करता। उसका अच्छा तरीका यह है कि नाटक की घटनाएँ ही इतनी अच्छी तरह से क्रमबद्ध की जायँ कि उनसे दर्शकों के हृदयों में उक्त भावनाओं का संचार हो। कीमती सीन-सीनरियों के भड़कीले तरीके से प्रभाव उत्पन्न करना कलात्मक नहीं कहा जा सकता।

नाटक के अन्तिम अंग 'संगीत' के सम्बन्ध में उसका मत है कि वह नाटक को सजाने का सबसे बड़ा साधन है। संगीत इतना आवश्यक होते हुए भी वह नाटक में ऐसे गानों का ठूँसना अनुपयुक्त समझता है जिसका कि नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ तक नाटक के सम्बन्ध में, काव्य के विषय में अरस्तू ने बहुत संक्षेप में लिखा है, क्योंकि वह नाटक में काव्य के सभी गुणों का समावेश मानता है। यथार्थ में वह नाटक को काव्य ही का एक रूप समझता है।

नाट्य-प्रणाली के निर्धारित नियम काव्य-प्रणाली में कहाँ तक प्रयुक्त हो सकते हैं और उनमें कहाँ तक परिवर्तन की आवश्यकता है उसका भी दिग्दर्शन अरस्तू ने कराया है। काव्य और नाटक के गुण-दोषों की तुलनात्मक विवेचना उसने की है। काव्य और नाट्य-कला दोनों में प्रायः एक ही से नियम लागू होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि काव्य का क्षेत्र नाटक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। इसलिए उसमें कथावस्तु की एकता (Unity) की उतनी आवश्यकता नहीं है। दूसरे, यद्यपि दोनों ही में अनुकरण प्रधान रहता है पर उनकी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। नाटक में यह अनुकरण क्रिया द्वारा

होता है किन्तु काव्य में वही काम वर्णन द्वारा होता है। इसके फलस्वरूप दो प्रकार से काव्य और नाटक का अन्तर ज्ञात होता है। (१) एक तो काव्य में घटनाओं की लम्बाई बढ़ जाती है और उसके साथ ही मुख्य घटना से सम्बन्ध रखने वाली आनुषंगिक घटनाओं का भी विस्तार बढ़ जाता है। दूसरे, काव्य में चमत्कार या अद्भुत घटनाओं का प्रयोग भी स्वतन्त्रता से किया जा सकता है। काव्य वर्णनप्रधान होने के कारण उसमें कथा के भिन्न-भिन्न अंगों का विकास एक साथ करना भी सम्भव हो जाता है और इस प्रकार काव्य की महत्ता बढ़ जाती है। इस गुण के कारण काव्य का प्रभाव क्षेत्र भी नाटक की अपेक्षा विस्तृत हो जाता है और उसमें संघर्ष की मात्रा बढ़ जाने के कारण विविधता का समावेश भी अच्छी तरह हो जाता है।

(2) काव्य और नाटक दोनों ही के लिए अरस्तू ने किसी न किसी मात्रा में चमत्कार आवश्यक बतलाया है। किन्तु काव्य में उसके लिए अधिक उपयुक्त स्थान है, क्योंकि उसमें सब क्रियाओं का (नाटक के समान) हमारे सामने ही घटित होना आवश्यक नहीं होता।

काव्य और नाटक के गुण-दोषों की तुलना करते हुए अरस्तू नाटक ही को अधिक पसन्द करता है, क्योंकि उसमें वे सब बातें मौजूद हैं जो कि काव्य में होती हैं। नाटक काव्य से इसलिए बढ़ जाता है कि उसमें संगीत और दृश्यों का विशेष प्रयोग किया जा सकता है। संगीत ही एक ऐसी वस्तु है जिससे कि नाटक द्वारा उत्पन्न आनन्ददायक भावनाओं का विस्तार हो सकता है।

उक्त वाक्य से हमें कविता की ग्रीक व्याख्या मिलती है। इसके अनुसार काव्य एक संश्लिष्ट कला है।

यहाँ तक हमने अरस्तू के मत का विचार किया। सन्तुष्ट में, उसने कला को भावना और तर्क के दोहरे आधार पर स्थापित किया है। उसने इतिहास और काव्य की प्रणालियों में अन्तर बतलाया है और साथ ही कला के सत्य और तर्क के सत्य में भेद किया है। उसने प्लेटो के इस तर्क का विरोध किया है कि भावना हानिकारक है वरन् यह सिद्ध किया है कि वह काव्य का

आवश्यक अंग है और मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए परमावश्यक है । अन्त में उसने काव्य और नाटक के भवन-निर्माण की रूपरेखा का दिग्दर्शन बड़ी सुन्दरता से कराया है ।

तर्क की आलोचना करने से प्रगट होता है कि अरस्तू के काव्य सम्बन्धी विचारों की अपेक्षा प्लेटो का आदर्श वर्तमान आदर्शों से अधिक समरस है । अरस्तू ने सभी प्रकार के काव्य को नाटक के ढाँचे में ढाल दिया है । वह कविता के उसी रूप को अधिक पसन्द करता है जो कि इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सके । साथ ही वह कविता की परीक्षा के लिए प्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग अन्य कलाओं में भी हो सकता है । इन विचारों से हमें वर्तमान आलोचना-पद्धति और ग्रीक पद्धति की विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है । ग्रीक समालोचक पूछते थे कि काव्य का रूप क्या है ? किन्तु वर्तमान आलोचक पूछता है कि उसका अन्तर्निहित विचार क्या है ? आगे हम वर्तमान पद्धतियों पर विचार करेंगे ।

तृतीय अध्याय

वर्तमान समालोचना का उदय

एडीसन द्वारा अरस्तू के सिद्धान्तों का प्रयोग

प्राचीन काल में ग्रीस के प्लेटो और अरस्तू के आलोचनात्मक सिद्धान्तों को हम देख चुके हैं। ग्रीस का अनुसरण प्रायः सभी मानसिक क्षेत्रों में रोम ने किया। यूरोप में जब नवचेतना (Renaissance) का उदय हुआ उस समय बौद्धिक विषयों की भी उन्नति हुई। उसके बाद ही यूरोप में विचार की क्रान्ति उत्पन्न हुई। उस समय लोग ग्रीक और रोमन साहित्य के बाद उत्पन्न होने वाले नवीन साहित्य की आलोचना करने लगे थे। तो भी उन्होंने अरस्तू ही का आधार लिया। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के प्रारम्भ काल में यही आधार रहा। फ्रांस यूरोपियन विचार का नेता था और फ्रांस का भी गुरु ग्रीस था। फ्रांसीसी नाटककार और आलोचकों ने नाटक और साहित्य के नियम प्राचीन लेखकों के आधार पर निर्धारित किये। इसी प्रकार इंग्लैंड में नवचेतन-युग के बाद बौद्धिक नवजागरण हुआ। इसका प्रारम्भ बेकन ने किया। उसने लिखा—कविता कल्पित इतिहास के सिवाय और कुछ नहीं है और वह गद्य तथा पद्य दोनों में लिखी जा सकती है। इसका उपयोग मनुष्य के चित्त को वह सन्तोष प्रदान करता है जो कि उसे संसार की वस्तुस्थिति से नहीं मिल सकता। मनुष्य की आत्मा विश्व से कहीं विशाल है इसलिए उसके अनुकूल वह विश्व की वास्तविकता से कहीं अधिक महानता, अधिक भलाई और विविधता चाहता है। ऐतिहासिक घटनाएँ उसे सन्तोष नहीं दे सकतीं, क्योंकि उनमें वह महानता नहीं है। कविता उन घटनाओं और कार्यों को कल्पना के द्वारा अधिक महान् तथा वीरतापूर्ण बना देती है। इतिहास में हमें अच्छाई और बुराई के अनुसार सदा सफलता या विफलता नहीं दीख पड़ती। किन्तु कविता उनमें अधिक न्यायोचित कर्म विपाक दिखलाती है।

उक्त उदाहरण से हमें पता लगता है कि विद्या के बल से मनुष्य अपने युग के बन्धनों से कितने ऊँचे उठकर भविष्य की ओर देख सकता है। बेकन ने कविता-सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किया है उसी का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इस विचार में कविता के भीतर प्रवाहित एक नवीन विचार-धारा का परिचय मिला है। यह विचार मनुष्य के आत्मिक विचार-परम्परा के अधिक अनुकूल था और इस प्रकार वह ग्रीक सिद्धान्त से भी आगे बढ़ा हुआ था। यह विचार-परम्परा कविता के अन्दर एक ऐसा विचार-चक्र अनुभव करती है जोकि मनुष्य की उन्नति के साथ ही साथ चलता है। उस समय नाटक काव्य से एक स्वतन्त्र विषय माना जाने लगा था और काव्य की अपेक्षा गद्य-लेखन की ओर अधिक प्रवृत्ति बढ़ रही थी। काव्य में भी छन्द तथा अन्य बाह्य लक्षण ही काव्य के सर्वोत्तम लक्षण नहीं माने जा सकते। दूसरी ओर मनुष्य की नैतिक उन्नति होने के साथ-साथ काव्य का महत्व भी बढ़ रहा था। मनुष्य ने समझ लिया था कि साहित्य के किसी दूसरे अंग में उसकी नवीन आकांक्षाओं को उतना पूर्ण सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता जितना कि काव्य में।

अन्य देशों के समान इंग्लैंड में भी यह नवीन विचारधारा प्रवाहित हुई। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हुआ जिसे कि लोग 'सर्वप्रथम यथार्थ समालोचक' नेता उपाधि से विभूषित करते हैं। उसका नाम था एडीसन। इसने प्राचीन काल से चले आये हुए आलोचना के सिद्धान्तों की अपूर्णता बतलाई और काव्यालोचन के नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। एडीसन ने साहित्यिक अध्ययन में खुले चित्त से प्रवेश किया। वह चारों ओर के प्रभावों को आत्मसात् करता गया। उसने पहिले-पहल अरस्तू के सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप से उपयोग किया। किन्तु ज्यों-ज्यों वह अपने अनुसन्धान में आगे बढ़ता गया उसने ज्ञान के उन नये-नये उपकरणों का उपयोग किया जो कि अरस्तू को अज्ञात थे। उसने मिल्टन के महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की आलोचना करते समय अरस्तू के नियमों का उपयोग किया किन्तु अपने निबन्ध 'कल्पना के आनन्द' (Pleasure of

Imagination) में उसने एक नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार काव्य-साहित्य का सौन्दर्य और उसकी शक्ति का आकलन किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग अरस्तू के 'भय और क्रूरता की अपील' के विपरीत साहित्य के सभी क्षेत्रों में हो सकता है। उसके प्रयोग करने में वह ऐसे नये दृष्टिकोणों का सुझाव करता है। वे कला के उन सभी रूपों पर लागू होते हैं जिनकी ओर अरस्तू का ध्यान ही नहीं गया था। साथ ही साथ वह ऐसे नये परिणामों की ओर भी ध्यान दिलाता है जिनके लिए अरस्तू के नियम कोई कसौटी निर्धारित नहीं करते। इन टूटी हुई बातों को सुझाकर उसने आलोचना के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया।

किन्तु एडीसन के नये सिद्धान्त की परीक्षा करने के पहिले हमें यह देखना आवश्यक कि उसने अरस्तू के नियमों का कैसा उपयोग किया और उन नियमों को किस प्रकार विकसित किया। सबसे पहिले हम देखते हैं कि उसने आलोचक के कर्तव्य के विषय में बड़ा उच्च आदर्श निर्धारित किया है। उसका कथन है—“ज्ञान के सभी क्षेत्रों में अंतर्दृष्टि हुए बिना आलोचक बन बैठने से बढ़कर निरर्थक बात दूसरी नहीं हो सकती। एक सच्चे आलोचक को कवि के दोषों की अपेक्षा उसकी विशेषताओं ही पर अधिक ध्यान देना चाहिए। उसे लेखक के ग्रन्थ में छिपे हुए सौन्दर्य को खोजकर जो वस्तुएँ उपादेय हैं उन्हें संसार के सामने रखना चाहिए। बहुत से आलोचक ऐसे होते हैं जिनमें न तो सुरुचि ही होती है और न विद्वता ही। वे लेखक के ऐसे वचनों की प्रशंसा कभी नहीं करते जो पहिले से जनता द्वारा प्रशंसित न हो गये हों। उनकी सारी आलोचना लेखक या कवि के दोषों या अवगुणों को खोजने ही में खर्च हो जाती है।

इसी उच्च आदर्श को समाने रखकर उसने मिल्टन के महाकाव्य की आलोचना की। अरस्तू के आलोचना सम्बन्धी नियमों का उपयोग करते हुए भी उसने जहाँ उन नियमों को प्रगतिशील काव्य के लिए अनुपयुक्त पाया वहाँ उनके दोषों का भी निर्देश करने में वह नहीं चूका। उदाहरण के लिए, मिल्टन के पात्रों के सम्बन्ध में अरस्तू ने जो कुछ लिखा है उससे वह

पूर्णतया सहमत नहीं है। उसकी समझ में अरस्तू के नियमों में कुछ अपूर्णताएँ हैं। इसी प्रकार कथावस्तु के सम्बन्ध में 'सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर परिवर्तन' के सिद्धान्त का उपयोग अरस्तू के दुखान्त नाटकों और काव्य के लिए भी श्रेष्ठ बतलाया है। एडीसन की समझ में यह सिद्धान्त काव्य के लिए भी श्रेष्ठ बिल्कुल अनुपयुक्त है। इसके स्थान पर उसने 'काव्यगत न्याय' (Poetic justice) का सिद्धान्त लागू किया है।

उसने मिल्टन के काव्य की आलोचना चार शीर्षकों में की है—कथा, पात्र, भावना और भाषा। अरस्तू ने भी यही चार विभाग (Plot, Character, Sentiment and Language) करके काव्य की आलोचना की थी। एडीसन के अनुसार इन चारों विभागों में मिल्टन साधारणतया श्रेष्ठ उतरता है। किन्तु कुछ बातों में उसमें दोष भी मिलते हैं। जैसे—'पैराडाइज लॉस्ट' की वियोगान्त कथा एडीसन के मत में काव्य के लिए उपयुक्त नहीं है। वह कहता है—“वीर काव्य सुखान्त होना चाहिए जिससे कि पाठक का मन सन्देह और भय तथा दुख और अशान्ति में से गुजरने के बाद अन्त में शान्ति और सन्तोष का अनुभव करे। मिल्टन की कथा अन्य गुणों से युक्त होने पर भी इस दृष्टि से दोषपूर्ण है। इतना होते हुए भी मिल्टन ने इस कथा के दोष को अपनी प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न किया है।”

एक दूसरा दोष उसने यह बतलाया है कि मिल्टन ने उतनी छोटी-छोटी-सी बातों का समावेश किया है जो कि एक महाकाव्य के लिए अनुपयुक्त है। उनके कारण पाठक का चित्त मूल कथा की ओर से बहक जाता है। एडीसन के मत में इस प्रकार के विषयान्तर के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं। कवि को अपनी ओर से जितना कम हो सके बोलना चाहिए। अपने विचारों को प्रगट करने की उत्सुकता में उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके कथानक में आघात न पड़े।

मिल्टन के पात्रों के सम्बन्ध में एडीसन यह दोष बतलाता है कि उसने पाप और मृत्यु नामक दो कल्पित-पात्रों की वातावरण की है। इसका कारण यह हुआ कि काव्य का विषय बहुत सीमित था किन्तु कवि की इच्छा थी कि

वह कई प्रकार के पात्रों की योजना करे। उसके मानव पात्र केवल दो हैं—आदम और होवा। उसका प्रधान पात्र तो शैतान ही माना जा सकता है। होमर के देवताओं और वीरों के समान मिल्टन के पात्र भी यथार्थ माने जा सकते हैं किन्तु एडीसन की आपत्ति इस बात पर है कि इन पात्रों में संभावना (Probability) की मात्रा उतनी नहीं है जितनी कि इस प्रकार के काव्य में आवश्यक थी। यदि इस प्रकार के कल्पित पात्र रखे भी गये थे तो उनका विस्तृत वर्णन करना या घटनाओं में उनका भाग लेना एडीसन की समझ में ठीक नहीं हुआ। होमर या वर्जिल के समान इन पात्रों के विषय का उल्लेख मात्र कर देना काफी था। होमर और वर्जिल के पात्रों के विषय में वह कहता है—“इन कवियों ने भी कल्पित पात्रों की अवतारणा की है और बड़ी सुन्दरता से की है किन्तु वे किन्हीं घटनाओं में भाग लेते नहीं बतलाये गये।” ‘इलियड’ काव्य में होमर ने निद्रा को एक पात्र के रूप में चित्रित किया है। उसका फल यह हुआ कि कल्पित होने पर भी ‘हीदन’ लोगों ने अपने मन्दिरों में उसकी मूर्तियाँ तक बना डालीं और एक देवी की तरह उसकी पूजा करने लगे। होमर ने इस तरह के पात्रों को बहुत छोटे-छोटे सुन्दर वर्णनों में समाप्त कर दिया है जो कि रूपकमय वर्णनों के बदले छोटे से काव्यमय वाक्य ही जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यह बतलाने के लिए कि मनुष्य भय के कारण भागने लगता है। उसने ‘भय’ व ‘उड़ान’ नामक दो अभिन्न मित्रों की अवतारणा की है। काव्य में मिल्टन भी इसी प्रकार के तरीकों को काम में लाया है। किन्तु जब ये कल्पित व्यक्ति प्रधान पात्र बन बैठते हैं और उसकी घटनाओं में प्रधान भाग लेने लगते हैं तब उस समय वीर काव्य अविश्वसनीय-सा बन जाता है।

इसके बाद मिल्टन की भावना के विषय में एडीसन तीन मुख्य दोष बतलाता है—

१. वे बहुत ही सूक्ष्म और श्लेषात्मक हैं।
२. उनमें ग्रीक कहानियों का बहुत अधिक उपयोग है जो कि मूल कथानक से बिल्कुल असम्भव है।

२. उसने अपनी विद्वता प्रगट करने का बहुत प्रयत्न किया है।

मिल्टन की भाषा की भी इन्हीं कारणों से आलोचना की है कि उसने पुराने अप्रचलित शब्दों और विदेशी मुहावरों का प्रयोग किया है तथा केवल शब्द-जाल की रचना करके भाषा को बहुत दुरुह बना दिया है। उसने पारिभाषिक शब्दों का भी उपयोग किया है। एडीसन के अनुसार काव्य का सौन्दर्य इसी बात में है कि उसमें दुरुह बातें समझने लायक हो जावें और कठिन बातों को जनसाधारण के समझने लायक भाषा में व्यक्त किया जाय।

उक्त दोषों को वह ऐसा मानता है मानो प्रकाशवान सूर्य में छोटे-छोटे धब्बे हों इसके बाद वह मिल्टन के काव्य-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए दूसरे कवियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ ठहरा है। मिल्टन की कविता में महानता (Sublimity) को ही सबसे उच्च गुण मानते हुए वह कहता है—
“मिल्टन की महान् प्रतिभा और उसकी श्रेष्ठता उसके विचारों की उच्चता में है। दूसरे कवि अन्य बातों में चाहे उसकी बराबरी कर लें किन्तु भावना की महानता में वह होमर के सिवा सभी प्राचीन और वर्तमान कवियों की अपेक्षा कहीं ऊँचा उठ जाता है। उसने अपने काव्य के पहिले, दूसरे और तीसरे में जिन भावनाओं को व्यक्त किया है उससे ऊँचे उठना मनुष्य की कल्पना के परे है।”

मिल्टन के काव्य की दूसरी विशेषता अद्भुत (Marvellous) और संभव (Probable) दोनों बातों का बड़ी सुन्दरता से मेल कराना है। उसके सम्बन्ध में एडीसन का मत है—“यदि कोई कथानक केवल संभव है तो उसमें और इतिहास में कोई अन्तर नहीं रह जाता और पीछे उसमें केवल अद्भुत बातें भरी हुई हों तो वह कोरी कहानी रह जाती है। वीर काव्य का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि पाठक के मन में एक ही साथ विश्वास और आश्चर्य के भाव उत्पन्न हों। मिल्टन के काव्य में यही सबसे बड़ी विशेषता है कि उसने आश्चर्यजनक बातों का भी इस खूबी से वर्णन किया है कि उन पर अविश्वास नहीं होता।”

इसके बाद ‘अरस्तू’ के सिद्धान्तों को लागू करते हुए भी दो बातों में

एडीसन उसके सिद्धान्तों से और आगे बढ़ता है—

१. कथावस्तु के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए वह काव्योचित न्याय (Poetic justice) के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

२. वह भावना और भाषा को काव्य का प्रधान अंग बतलाकर उनके महत्व को बढ़ाता है।

इनकी विस्तार से आगे के अध्यायों में चर्चा की जायगी। यहाँ पर एडीसन ने अरस्तू की 'पोयटिक्स' पुस्तक में से जिन उदाहरणों पर विशेष ध्यान दिलाया है उनकी चर्चा कर देना आवश्यक है। नाटक की मूलभूत घटना के लिए अरस्तू ने महानता (Sublimity) की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—

“सौन्दर्य के लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु के भिन्न-भिन्न अंगों में संतुलन (Proportion) होने के साथ ही साथ उस पूरी वस्तु में विशालता भी होनी आवश्यक है। यथार्थ में सौन्दर्य विशालता और संतुलन के मेल ही से उत्पन्न होता है। यदि सुन्दर वस्तु बहुत छोटी हुई तो हमें उसके समान रूप का अस्पष्ट दर्शन तो हो सकता है, उसके विभिन्न भावों पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। इसी प्रकार यदि वह वस्तु बहुत बड़ी हुई तो हम एक बार में उसके समान रूप का दर्शन नहीं कर पाते। हम केवल उसके अंगों ही को देख सकते हैं और इस प्रकार उसके भिन्न-भिन्न अंगों की एकता से निर्मित सौन्दर्य की परिपूर्णता हमारी दृष्टि में नहीं आती। विशालता होना तो आवश्यक है किन्तु वह इतनी बड़ी न हो कि हमारी आँखों में न समा सके। यही बात नाटक की कथावस्तु के सम्बन्ध में ठीक उतरती है। उसकी लम्बाई इतनी न होनी चाहिए कि हम उसकी कल्पना ही न कर सकें। वह हमारे चित्त में समा ही न सके।”

इस उदाहरण पर एडीसन बहुत सुन्दर टीका करते हुए कहते हैं—
“कृति की विशालता (Sublimity) अरस्तू का मतलब है कि वह आकार-प्रकार ही में बड़ी न हो वरन् स्थायित्व में भी बड़ी हो। दूसरे शब्दों में उस

घटना में लम्बाई के साथ विशालता भी होना आवश्यक है। जिस प्रकार हम न तो छोटे से कोड़े के अंग-प्रत्यंगों का सौन्दर्य आँखों से देख सकते हैं और न विशालकाय जानवर का एकत्रित सौन्दर्य ही देख सकते हैं। वही बात बहुत छोटी या बहुत बड़ी घटना के सम्बन्ध में लागू होती है। बहुत छोटी घटना जब कि स्मृति में गुम-सी जाती है तब बहुत बड़ी घटना उसमें समाती ही नहीं। होमर और वजिल ने इसी विषय में अपनी कला का परिचय दिया है। 'इलियट' तथा एनिड दोनों ही काव्य के कथानक बहुत छोटे हैं किन्तु इनके रचयिताओं ने अन्य घटनाओं के सम्मिलित तथा काव्यात्मक वर्णनों द्वारा उन्हें इस प्रकार आकर्षक और विस्तृत बना दिया है कि वे स्मृति-पटल पर बहुत सुन्दरता से जम जाते हैं। महाकाव्यों की चर्चा करते हुए, अरस्तू होमर के विषय में कहता है—“मैं उसे इसलिए पसन्द करता हूँ कि वह अपने कवि-कर्म को अच्छी तरह समझता है।” इसी पर से उसने कविता का यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि कवि को अपनी ओर से बहुत कम करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह अनुकर्ता (Imitator) नहीं रह जाता। दूसरे कवि अपने व्यक्तित्व को प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु होमर दो-चार प्रारम्भिक शब्द कहने के बाद तुरन्त ही एक पात्र को हमारे सामने रख देता है। वह ऐसे पात्र को कभी नहीं रखता जिसमें कोई चरित्र या विशेषता न हो। इस पर एडीसन का कथन है कि वीर काव्य के लेखक को स्वयं कुछ न कहकर अपने पात्रों के मुख से ही सब कुछ कहलवाना चाहिए, क्योंकि पाठकों के मन पर पात्रों के मुख से सुनकर जितना असर पड़ता है उतना कवि के मुख से नहीं। अरस्तू का मुख्य उद्देश्य यही है कि काव्य को जितना अधिक हो सके नाटकीय रूप में लाना चाहिए। इसे समझते हुए एडीसन ने दो कारण बतलाए हैं। अन्य पुरुष के बदले उत्तम पुरुष का प्रयोग होने से ऐसा जान पड़ता है कि कवि के बदले प्रत्यक्ष पात्र हमारे सामने उपस्थित है। दूसरे यह भी जान पड़ता है कि लेखक या कवि ने पात्र के चरित्र को अच्छी तरह समझ लिया है।

शैली के विषय में अरस्तू का कथन है कि उसका विस्तार काव्य के ऐसे स्थलों ही पर करना चाहिए जहाँ चरित्र या भावना की कमी हो। क्योंकि अधिक आलंकारिक वर्णन से चरित्र और भावना ऊँचे उठने के बदले छिप जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार एडीसन ने मिल्टन की वर्णन-शैली पर काफी प्रकाश डाला है।

चतुर्थ अध्याय

काव्यगत न्याय

एडीसन का मत

अरस्तू ने दुखान्त नाटक में कथावस्तु को कितना महत्व दिया है यह हम देख चुके हैं। यहाँ उसके कारणों के विषय में कुछ विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त को दो प्रकार से प्रतिपादित किया है—(१) तत्त्वज्ञान के अनुसार अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से और (२) मनुष्य जीवन के लक्ष्य की दृष्टि से जिसका कि दुःखान्त नाटक एक प्रकाशन (Representation) मात्र है जिस प्रकार मनुष्य की सब क्रियाओं का कोई न कोई अन्तिम लक्ष्य होता है इसी प्रकार नाटक का भी अन्तिम लक्ष्य होता है। यदि मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य कल्याण या सुख-प्राप्ति है तो नाटक का लक्ष्य भी मनुष्य की कृति का प्रकाशन है। उसके छोटे-मोटे उद्देश्य भी इसी के अनुकूल होने चाहिएँ। जब हम मनुष्य जीवन की ओर देखते हैं तब मालूम होता है कि मनुष्य की परीक्षा उसकी क्षमता से नहीं होती किन्तु उसकी प्रत्यक्ष कृति से होती है। नाटक के पात्रों से तो हमें उनकी क्षमता का पता अवश्य लगता है किन्तु कथावस्तु ही ऐसी चीज है जिससे उनकी कृति का प्रकाशन होता है। और यही नाटक का मुख्य आधार है। इसी कारण अरस्तू ने कथावस्तु को नाटकों का केन्द्रीय सिद्धान्त तथा आत्मा कहा है और पात्रों को उसके बाद महत्व दिया है। मैथ्यू अरनोल्ड के अनुसार इसी सिद्धान्त से प्राचीन और नवीन कविता का अन्तर स्पष्ट होता है।

प्राचीन कवियों और वर्तमान कवियों के दृष्टिकोण में यही अन्तर है कि किसी कृति का काव्यात्मक रूप ही प्राचीन कवियों की दृष्टि में अधिक महत्व-

पूर्ण था, जबकि वर्तमान कवियों का सारा ध्यान उस कृति के सिलसिले में आये हुए विभिन्न विचारों ही पर केन्द्रित रहता है। उनकी दृष्टि सम्पूर्णता पर थी और इनकी दृष्टि केवल विभिन्न अंगों तक सीमित है।

उसने कविता के सम्बन्ध में भी वही सिद्धान्त लागू किया है जो कि दुःखान्त नाटक के लिए लागू किया जाना चाहिए। अर्थात् उसने माना है कि नाटक के समान काव्य की भी कथावस्तु दुःखान्त ही होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को वर्तमान काव्यकार मानने को तैयार नहीं हैं। इस बात से काव्य के प्राचीन और नवीन मत का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

इस नवीन मत का आधार वेकन का 'काव्यगत न्याय' का सिद्धान्त ही है। इस मत से अरस्तू के मत की तुलना करने के लिए हमें उसकी पुस्तक (Poetics), पोयटिक्स, की ओर जाना पड़ेगा जिसमें उसने कथा-वस्तु को दो-तीन विभागों में बाँटा है। सरल (Simple) और मिश्रित (Complicated) उसके बाद उसने मिश्रित को एकाकी (Single) और मिथुन (Double) इन दो भागों में विभक्त किया है। पहिले विभाग में नायक सौभाग्य से दुर्भाग्य में पड़ता है। और दूसरे में वह सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर जाने के बाद फिर दुर्भाग्य से सौभाग्य की ओर बढ़ता है। इन दोनों में से अरस्तू के मतानुसार नाटक या काव्य दोनों के लिए पहिले प्रकार की कथावस्तु ही उपयुक्त है। तात्पर्य यह है कि नाटक या काव्य को दुःखान्त ही होना चाहिए।

एडीसन नाटक के विषय में तो अरस्तू के मत को मानता है किन्तु काव्य के विषय में उसका मतभेद है और इसी के समर्थन में वह 'काव्यगत न्याय' को उपस्थित करता है। उसका मत इस प्रकार है—

अंग्रेजी नाटकों के लेखक इस विचार को पसन्द करते हैं कि किसी गुणवान् या निरापराध पात्र को विपत्ति में फँसने के बाद उसे उसी अवस्था में छोड़ देना उचित नहीं है बरन् उसकी विपत्तियों से मुक्ति या शत्रुओं पर विजय के बाद ही नाटक का अन्त होना चाहिए। पुण्य का पारितोषिक और पाप का दण्ड दिलाने की उत्सुकता ने ही इस 'काव्यगत न्याय' को जन्म

दिया है। मनुष्य पर सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति, पड़ती ही रहती है; किन्तु यदि हम धर्म की विजय ही सदा चित्रित करते रहें तो दर्शकों के चित्तों पर भय और करुणा का संचार न होगा जो कि दुःखान्त का उद्देश्य है। जब हम नाटक के बीच में किसी पुण्यात्मा पुरुष को विपत्ति में पँसे देखते हैं तो हमें इस विचार से संतोष मिलता है कि अन्त में तो उसकी विजय होने ही वाली है। इसी कारण प्राचीन लेखकों ने कभी धर्म की विजय और कभी उसकी पराजय दोनों ही को चित्रित किया है। किन्तु अरस्तू के मत में जनता को सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हीं नाटकों से होती है जिनका अन्त दुःखमय होता है। इसलिए उसका निष्कर्ष यही है कि भय और करुणा मनुष्य के चित्तों पर इतना सुखकर और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करती है जितना कि हर्ष और संतोष से नहीं हो सकता। साहित्य में दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे गये हैं और दोनों ही का प्रभाव लोगों पर हुआ है। अतः किसी एक को महत्व देना ठीक नहीं है।

इससे जान पड़ता है कि जहाँ तक दुःखान्त नाटक का सम्बन्ध है अरस्तू के मत का विरोध करना कठिन है। किन्तु उसी मत को साहित्य के दूसरे अंगों पर लागू करना भी बड़ी भूल होगी। काव्य या उपन्यास जीवन के पूर्ण चित्र को उपस्थित करते हैं, और कवि या उपन्यासकार को अपनी कृतियों को दुःखान्त बनाने पर बाध्य करना जीवन के नियम को ही बदल देना होगा। क्योंकि जीवन का अन्त सदा दुःखमय नहीं होता। दुःखान्त नाटक से दर्शकों पर दुःखमय प्रभाव तो पड़ता ही है। जनसाधारण यदि सुखान्त को पसन्द करते हैं, तो उसका कारण चाहे अरस्तू के मत से उनकी 'सुखि' का विकसित न होना ही हो तो भी लोगों को आनन्द देने के लिए (चाहे वह 'आनन्द' भी अरस्तू के मत में 'उत्तम' न समझा जाय) कवि और उपन्यासकार अपनी कृतियों को सुखान्त बनाने का प्रयत्न करते हैं।

कहा जा चुका है कि प्रकृति का सत्य और कला का सत्य दोनों अलग-अलग चीजें हैं। इसलिए सिर्फ जीवन की घटनाओं के आधार पर इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि सुख या दुःख किस चीज में हैं। साथ ही

साथ काव्यगत न्याय का सिद्धान्त, जो कि एक कलात्मक सिद्धान्त है, समर्थन तात्विक दृष्टि से भी किया जा सकता है। वेकन का मत इसी के आधार पर है और वही आधुनिक काव्य का दृष्टिकोण है। उसके मतानुसार, “कविता मनुष्य को वह सन्तोष देने का प्रयत्न करती है जो कि उसे संसार की साधारण घटनाओं में नहीं मिलता। इतिहास में हमें साधारण क्रियाओं और घटनाओं ही का वर्णन मिलता है जबकि कविता उन घटनाओं को असाधारण और अप्रत्याशित बना देती है और उनका परिवर्तन भी कर देती है। वह महानता और नैतिकता की भी योजना करती है। इसी कारण उसमें दैवी शक्ति की कल्पना की गई है। क्योंकि वह बाहरी घटनाओं के ऊपर मानसिक इच्छाओं का प्रभुत्व बतलाकर मनुष्य के मन को ऊँचा उठाती है जब कि शुष्क तर्क मनुष्य के मन को सांसारिक घटनाओं के नीचे झुका देता है।” इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता मनुष्य की प्रकृति और उसके सुख-दुःख से एक रूप होने तथा संगीत से मुक्त होने के कारण ऐसे समयों और स्थानों में प्रवेश कर जाती है जहाँ दूसरी विद्याएँ पर नहीं मार सकती।

इसका मूलाधार कला का वह आदर्शवादी रूप ही है जो विश्व भर में स्वीकृत हो चुका है। काव्य-कला में भी वही सिद्धान्त लागू है। इसका प्रयोग कृति और जीवन तथा चरित्र और व्यक्तिगत क्रिया सभी में किया जा सकता है। अन्य ललित कलाओं की तरह काव्य में भी सौन्दर्य का आधार प्रकृति से वस्तुओं का चुनाव ही तो है। कल्पना के आनन्द के विषय में लिखते हुए एडीसन ने इसी सिद्धान्त को माना है। उसने लिखा है — “कवि का कार्य है कि वह यथार्थता का वर्णन करते समय प्रकृति में सुधार और परिपूर्णता उत्पन्न करके कल्पना को उत्तेजित करे। इतना ही नहीं वरन् प्रकृति के सौन्दर्य से भी अधिक सौन्दर्य की योजना करे।” प्राचीन दुःखान्त नाटकों के लेखकों ने मनुष्य का उसी प्रकार चित्रण किया है जिस प्रकार कि वे संसार में पाये जाते हैं किन्तु कलाकार के लिए ऐसा करना असम्भव है।

मोल्टन के शब्दों में काव्यगत न्याय का अर्थ केवल ‘न्याय का सुधार’ नहीं है किन्तु ‘कला की दृष्टि से न्याय में परिवर्तन करना है।’ नाटक में यह

परिवर्तन किस प्रकार लागू किया जाता है इसे समझाते हुए वह कहता है—

मनुष्य के अनुभव के सम्बन्ध में नाटक वही काम करता है जो कि चित्र-कला उसके बाहरी रूप के सम्बन्ध में करती है। प्रकृति के दृश्यों का सौन्दर्य तो स्पष्ट ही है किन्तु वह चित्रकार की ही कला है कि जो साधारण से साधारण दृश्य में निहित सौन्दर्य को स्पष्ट कर देती है, यहाँ तक कि स्वयं प्रकृति गौण बन जाती है और प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन हर जगह होने लगते हैं। इसी प्रकार जीवन में बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सब जानते हैं किन्तु एक कलाकार के रूप में नाटककार उन अनुभवों को इस प्रकार सजाता है कि उसका अन्तर्निहित सौन्दर्य प्रस्फुटित हो जाता है और हमारी दृष्टि संसार की प्रत्येक घटना में एक अर्थ देखने लगती है। एकत्रित करुणा काव्य गत न्याय के साथ मिलकर उसकी कृति को नाटकत्व प्रदान करती है। किन्तु दूसरी कला-कृतियों में इस 'एकत्रित करुणा' की उतनी आवश्यकता नहीं। कवि का उद्देश्य केवल करुणा और भय के भावों को जागृत करना नहीं है। वहाँ वह घटनाओं को इस प्रकार सजाता है जिसमें न्याय का उचित विभाजन प्रगट हो। यही न्याय-भावना की संतुष्टि कला के आदर्शवादी रूप का आवश्यक अंग है। यही कला की दृष्टि से 'न्याय का परिवर्तन' कहलाता है।

एक और बात से न्याय की भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है। वह है—नैतिक निष्कर्ष निकालने की इच्छा। यह गद्य साहित्य में अधिक अच्छी तरह पूर्ण हो सकती है। इसी कारण वर्तमान काल में कथा-साहित्य का महत्व बढ़ रहा है। जो नैतिक निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति काव्य के सम्बन्ध में दृष्टि-गोचर हुई थी वही कथा-साहित्य में भी लागू की जा रही है। भावना के क्षेत्र में दुःखान्त नाटक का क्या स्थान है इसके विषय में एडीसन कहता है—“दुःखान्त नाटक मानव-प्रकृति की सबसे अच्छी अनुकृति है। इसी कारण वह सबसे अच्छा मनोरंजन उपस्थित करता है। एक गुणवान आदमी को अपने भाग्य से संघर्ष करते हुए देखकर कितना आनन्द होता है। इससे हमारे हृदय में वह सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है जो कि हमारे स्वभाव को उन्नत करती है। वर्तमान दुःखान्त नाटक ग्रीक और रोम की नाट्य-कला से भी कई

बातों में बढ़े हुए हैं किन्तु उनमें नैतिक निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति कम है ।

अब हम एडीसन के उन मतों पर विचार करना चाहते हैं जो समालोचना के क्षेत्र के कुछ बाहर हैं । कला की कृति को परखने की सबसे अच्छी कसौटी क्या है ? इसके सम्बन्ध में एडीसन के मत का सबसे पहिले उल्लेख करना आवश्यक है । उसका मत है कि कला के नियमों की अपेक्षा कला की सुरुचि ही उसके गुणों की जाँच करने की अन्तिम कसौटी है । संगीत के सम्बन्ध में उसका मत है कि उसे जनता की प्रतिमा के अनुकूल होना चाहिए । इसी प्रकार स्थापत्य, चित्र-कला और काव्य को मनुष्य-जाति की सुरुचि के आधार पर स्थापित होना चाहिए न कि सिर्फ कला के नियमों के आधार पर । दूसरे शब्दों में वह मानता है कि कला का अनुकरण न कर कला की सुरुचि का अनुकरण करना चाहिए ।

काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वह प्रकृति के पुनः-प्रकाशन को (Reproduction) ही उसका उद्देश्य मानता है—“जिस प्रकार प्राकृतिक तत्त्वज्ञान प्रकृति में हमारी सुरुचि को बढ़ाता है और कल्पना को प्रसन्न करने के साथ ही बुद्धि को भी जगाता है, उसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य नमनानन्द देने के साथ ही एक बुद्धियुक्त आदर (Admiration) को जगाते हैं ।”

यदि हम वाल्मीकि, कालिदास और वर्ड्सवर्थ आदि प्रकृति उपासक कवियों पर विचार करें तो जान पड़ेगा कि वे केवल प्रकृति के रूप का अनुकरण ही नहीं धरते किन्तु उस आत्मिक भावना का भी प्रगटीकरण करते हैं जोकि उन दृश्यों के देखने से हमारे मन में उत्पन्न होती है ।^१

इसके बाद एडीसन विनोद और हास्य के विषय में लिखते हुए झूठे और सच्चे विनोद के उदाहरण देकर उनका भेद बतनाता है । उसका मत है कि झूठा हास्य उन्माद (Franzy) और हास्य के संगम से उत्पन्न होता है । इसी मूर्खता की पुत्री है । उन्माद (Franzy)

१ ‘कविता की प्रकाशन शक्ति’ दृष्टव्यः ।

निरर्थकता का पुत्र है और निरर्थकता असत्य की पुत्री है। किन्तु सच्चा हास्य अभिजात है—वह विनोद और आनन्द का पुत्र है और उसके पूर्वज सुरुचि और सत्य हैं। इस प्रकार विनोद और आनन्द ही के संगम से हास्य की उत्पत्ति होती है। इसलिए हास्य के स्वरूप को समझने के लिए हमें विनोद के रूप को भी समझना होगा। झूठा हास्य केवल विदूषकों की सूक्तियों और भोंडों की नकलों से उत्पन्न होता है। वह दुर्गुण मूर्खता, विलासिता या लोभ की निन्दा में उतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि सद्गुण, बुद्धिमत्ता, दुख या दारिद्र्य के मज़ाक उड़ाने में खुश होता है। नकल के सिवा वह विनोद का दूसरा तरीका ही नहीं जानता। उसका मज़ाक भी व्यक्तिगत होता है और उसका लक्ष्य व्यक्ति के गुण या दुर्गुण न होकर स्वयं व्यक्ति ही बन जाता है।

विनोद के विषय में एडीसन का विवेचन और भी विस्तृत है। उसने सच्चे और झूठे सब प्रकार के विनोदों की उदाहरण सहित सूची पेश की है जोकि प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सभी युगों में लिखे गये हैं। लाक विनोद और श्लेष दोनों में वह भेद करता है—“विनोद दो वस्तुओं के दर्शन से अथवा विचारों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है जबकि निर्णय एकीकरण, विश्लेषण और विचारों की विभिन्नता से उत्पन्न होता है।” ड्राइन्टन ने विनोद की परिभाषा करते हुए कहा है—“किसी विषय के उपयुक्त शब्दों और विचारों का नियोजन ही विनोद है।” इस परिभाषा से एडीसन सहमत नहीं है—“हमारे हास्य का मूल अपनी श्रेष्ठता की वह भावना है जो कि दूसरों की लघुता को देखकर अचानक उत्पन्न होती है।” विनोद के विषय में एडीसन ‘लाक’ की तुलना (Comparison) और हाब्ज़ के अचम्भे (Surprise) को विनोद के दो मुख्य अंग मानता है। वह कहता है विचारों की प्रत्येक समानता विनोद नहीं कही जा सकती। वह समानता ऐसी होनी चाहिए जो हम में आनन्द और आश्चर्य दोनों भाव उत्पन्न करे। इन दोनों में भी, आनन्द की उपेक्षा आश्चर्य अधिक आवश्यक है।

“विनोद उत्पादन करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों समान विचार बिल्कुल पास-पास न होकर कुछ दूरी पर रहें। क्योंकि जहाँ समानता बिल्कुल स्पष्ट और साधारण बन जाती है वहाँ वह कोई आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती और इस कारण उससे कोई विनोद भी उत्पन्न नहीं होता।”

इसके साथ ही वह विनोद के सम्बन्ध में दो और विचार हमारे सामने रखता है जो इसी से सम्बन्धित हैं। (१) सच्चा विनोद विचारों के साम्य में है और झूठा विनोद प्रतीकों, शब्दों, अथवा अक्षरों के साम्य से उत्पन्न होता है। (२) विचारों की समता के साथ ही उनकी विषमता भी उसी प्रकार का विनोदी प्रभाव उत्पन्न करती है, क्योंकि उस विषमता से भी हमें समता का ध्यान होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरे लेखकों के विचारों का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा। अरस्तू का कथन है कि किसी प्रकार के नैतिक या शारीरिक दोष या कमी को देखकर ही हममें उपेक्षा या विनोद की भावना उत्पन्न होती है बशर्ते कि वह दोष वेदना-रहित और हानि-रहित हो। उदाहरण के लिए मुँह पर लगाए हुए चेहरे को देखकर हमें विनोद होता है, क्योंकि वह कुरूप और भद्दा होने पर भी हमें कोई दुख की भावना उत्पन्न नहीं करता। हम इस विनोद की भावना में किसी नैतिक या शारीरिक गुण से नीचे नहीं गिरते, क्योंकि उससे हमारी आत्मा या मनुष्यता पर कोई आघात नहीं लगता। इमर्सन के शब्दों में, “विनोद की आत्मा यही है कि हम जो कुछ करने का दिखावा करें वह न करें।”

इमर्सन अपने ‘प्रहसन’ नामक निबन्ध में कहता है—“सत्य और औचित्य का आदर्शपूर्ण करने वाले मनुष्य के प्रति हममें घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं। हम अपनी सहानुभूति के कारण सत्य को मानसिक दृष्टि से आकलन नहीं कर पाते और इसी से हमें उससे विनोद होता है। किन्तु असत्यता या दुर्गुण को हम बहुत दूर से देखें, इतनी दूर कि जहाँ हमारी नैतिक सहानुभूति उसके बीच में न आवे, तभी वह वस्तु विनोद उत्पन्न करने वाली या हास्यास्पद हो उठती है।

पंचम अध्याय

कल्पना—काव्य का अनिवार्य अंग

एडीसन ने इसके बाद एक और नये सिद्धान्त का निरूपण किया है जिसे हम साहित्य में एडीसन का असली सिद्धान्त मान सकते हैं। यदि हम एडीसन और अरस्तू के सिद्धान्तों का एक वाक्य में भेद जानना चाहें तो वह इस प्रकार कहा जा सकता है : अरस्तू का मत है कि कथावस्तु ही दुःखान्त नाटक का केन्द्रीय सिद्धान्त और उसकी आत्मा है; दूसरी ओर एडीसन मानता है कि कल्पना को प्रभावित करने की शक्ति ही काव्य का जीवन प्राण है और वही उसकी चरम परिपूर्णता है। इन्हीं दो सिद्धान्तों पर हम यहाँ कुछ विस्तृत विचार करेंगे।

अरस्तू कथावस्तु को दुःखान्त नाटक की आत्मा इसलिए कहता है कि घटनाओं को कुशलतापूर्वक सजाने से ही हमारी भावनाओं पर प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। करुणा की भावना जो कि दुःखान्त नाटक में इतनी महत्वपूर्ण है, काव्य के दूसरे अंगों के लिए उतनी अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। इसी बात को देखकर एडीसन ने एक ऐसे नये सिद्धान्त की खोज की जो कि काव्य या कथा सभी प्रकार के साहित्य पर एक समान लागू हो सके। उसने विचार किया कि एक-सी घटनाओं के रहते हुए भी कवि के द्वारा सजाये जाने पर कुछ वर्णन तो अधिक प्रभावशाली होते हैं और कुछ बिल्कुल नहीं होते। फिर इसका क्या कारण है कि कुछ क्रियाएँ या वस्तुएँ जो अपने आप हमें घृणास्पद मालूम होती हैं कुशल कवि द्वारा वर्णित होने पर हमें एक प्रकार का आनन्द प्रदान करती हैं ? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य की भिन्न-भिन्न क्रियाएँ कथावस्तु के रूप में हमारे सामने आती हैं, तब उनसे हमारे मन पर एक खास प्रभाव पड़ता है। एक कला-प्रेमी के मन में वही व्यक्तिगत क्रियाएँ

और घटनाएँ एक कुशल कवि के द्वारा उपस्थित किये जाने पर एक नया ही रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार का परिवर्तन होने पर ही उन्हें काव्य या कला का रूप मिलता है। जब हम उन्हीं वस्तुओं से अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं तो हमारे मन पर उतना असर नहीं पड़ता जितना और जिस प्रकार एक कुशल कवि द्वारा उपस्थित किये जाने पर पड़ता है। इस प्रकार वे वस्तुएँ केवल हमारी इन्द्रियों को प्रभावित नहीं करती वरन् हमारी कल्पना को भी उत्तेजित करती हैं।

यही कल्पना को उत्तेजित करने की शक्ति काव्य का मुख्य गुण है। चाहे उससे हमारी कल्पना जागृत हो या हास्य उत्पन्न हो, चाहे मानव-जीवन का चित्र हो या प्रकृति का निरीक्षण, यही कल्पना-शक्ति काव्य की आत्मा है। इसी को एडीसन ने अरस्तू के सिद्धान्त के स्थान पर साहित्य के सभी अंगों में लागू किया है।

अब हमें देखना है कि इस कल्पना की उत्तेजना का रूप क्या है? पहले एडीसन यह मानता था कि कलाकार या कवि द्वारा किये गये वस्तुओं के वर्णनों से मन पर बिल्कुल वही प्रभाव पड़ता है जो कि उनको प्रत्यक्ष देखने या सुनने से पड़ता है। किन्तु इस बीच अरस्तू ने कला के सत्य और तर्क के सत्य में भेद बतलाते हुए इस सिद्धान्त की खोज की कि संसार की वस्तुओं और उन वस्तुओं की कलात्मक कृतियों—जैसे मूर्ति, चित्र या काव्य—में बहुत अन्तर है। तब इस नवीन खोज का उपयोग कर एडीसन ने उसे और आगे बढ़ाया और यह प्रतिपादित किया कि प्राकृतिक वस्तुएँ और उन पर आधारित कला-कृतियों से मन पर बिल्कुल अलग-अलग प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यह बात अवश्य है कि कला-कृतियाँ, मूर्तियाँ, चित्र या साहित्य हमारी इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे सम्पर्क में आता है, किन्तु इन प्रति-कृतियों (Representation) में मूल प्राकृतिक पदार्थों की अपेक्षा कुछ दूसरे ही गुण उत्पन्न हो जाते हैं। ये विशेष गुण हमारी इन्द्रियों को दूसरे ही प्रकार से प्रेरित करते हैं। दूसरे शब्द में, ये प्रतिकृतियाँ (मूर्ति चित्र या कला) कल्पना नामक नवीन शक्ति ही से उत्पन्न होती हैं और इसी कारण हमारी कल्पना को

प्राकृतिक वस्तुओं से भी अधिक प्रभावित करती हैं। जिस कल्पना से हमें मूल वस्तुओं और उनकी प्रतिकृतियों का यह भेद प्रगट होता है और जो उन्हें कला का रूप प्रदान करती है वह कल्पना-शक्ति कलाकार के मन में मूर्तिमती होती है। उसी कल्पना के बल से वह हमारी कल्पना को और भी अधिक उत्तेजित करता है। इस प्रकार एडीसन ने साहित्य-क्षेत्र में वही काम किया जो कि डेकार्टे ने तत्व ज्ञान के क्षेत्र में किया था।

यदि हम तत्व ज्ञान की भाषा में कहें तो (ज्ञान तथा ललित-कला दोनों ही के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है।) इन्द्रिय जन्म ज्ञान की अपेक्षा वस्तुओं का तात्त्विक ज्ञान या कलात्मक ज्ञान कुछ अधिक ही होता है। कवि या चित्रकार अपनी इन्द्रियों से जो कुछ देखता या सुनता है केवल वही अपनी कलाकृति में प्रगट नहीं करता वरन् उससे कुछ अधिक ही प्रगट करता है। यह अधिकता या विशेषता मानव-मन की एक विशेष उपज है और यह शक्ति अन्य मानसिक शक्तियों से कुछ भिन्न है। इसी शक्ति को हम कल्पना-शक्ति कहते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मस्तिष्क के उक्त भिन्न-भिन्न पहलुओं के बीच में कोई दीवार-सी खिंची हुई है। एडीसन के शब्दों में हम आत्मा को कई प्रकार की शक्तियों और गुणों में विभाजित करते हैं किन्तु आत्मा में उस प्रकार के कोई अलग-अलग बँटे हुए भाग नहीं हैं। सम्पूर्ण आत्मा ही से हम सोचते-समझते तथा निश्चय या कल्पना करते हैं। हमने केवल समझने-समझाने के लिए इस प्रकार के कृत्रिम विभाग बना लिये हैं। यही हाल कल्पना तथा अन्य मानसिक शक्तियों का भी है।

एडीसन इस सिद्धान्त पर किस प्रकार पहुँचा यह भी जान लेना आवश्यक है। अपने निबन्ध 'कल्पना के आनन्द' में उसने उसका वर्णन किया है। सबसे पहले उसने इस बात का अनुभव किया कि मनुष्य जब पार्थिव वस्तुओं के सम्पर्क में आता है तब उस पर भी कल्पना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके आगे बढ़कर वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि काव्य और कलाओं से हमें जो संतोष प्राप्त होता है उससे कल्पना का सीधा सम्बन्ध और भी स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाता है। इस खोज से वह यह मत स्थिर

करता है कि काव्य और कला की वे ही कृतियाँ सफल मानी जा सकती हैं जिनमें कि यह कल्पना सबसे अधिक विकसित हो। इससे वह यह परिणाम निकालता है कि वही कला सबसे अधिक सफल है जो हमारी कल्पना को सबसे अधिक प्रभावित कर सके। इसलिए कला और कलाकार को इसी लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। कला और काव्य क्षेत्रों को वह उसके बाह्य रचना की अपेक्षा कल्पना-शक्ति द्वारा मन को प्रभावित करने की आध्यात्मिक कसौटी पर ही कसता है।

इन्द्रियों में दृष्टि को सबसे पूर्ण और आनन्ददायक इन्द्रिय मानते हुए वह कहता है—“इसी इन्द्रिय के द्वारा कल्पना-शक्ति अपने विचार संचित करती है। इसलिए कल्पना के आनन्द से मेरा मतलब ऐसे पदार्थों से है जो कि प्रत्यक्ष हमारी दृष्टि-पथ में आते हैं या जिनका स्मरण हम चित्र, मूर्ति आदि के द्वारा करते हैं। कल्पना के द्वारा हम कोई ऐसी वस्तु का चिन्तन नहीं कर सकते जो कि पहले-पहल दृष्टिपथ के द्वारा प्रविष्ट न हुई हो। हमारी कल्पना में यह शक्ति होती है कि हम एक बार देखे हुए प्रतिबिम्ब को स्थायी रख सकें, बदल सकें, या अपने मन के अनुकूल दूसरे प्रतिबिम्बों के साथ मिला सकें। इसी कल्पना-शक्ति के द्वारा अंध गुफा में रहकर भी मनुष्य अपने मन पर चित्रित दृश्यों और कल्पनाओं के द्वारा अपना मनोरंजन कर सकता है और ये मानसिक दृश्य प्राकृतिक दृश्यों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और रमणीय होते हैं।

कल्पना के आनन्दों में दृष्टि से उत्पन्न आनन्द ही सम्मिलित हैं, और वे दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) प्राथमिक आनन्द और (२) द्वितीय आनन्द। प्राथमिक आनन्द वे हैं जो कि प्रत्यक्ष वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न होते हैं और द्वितीय आनन्द वे हैं जो कि पदार्थों के विचारों से उत्पन्न होते हैं। जब वे वस्तुएँ प्रत्यक्ष हमारे सामने नहीं होतीं तब हम अपनी स्मृति के बल से उन्हें प्रत्यक्ष करते हैं। परोक्ष या काल्पनिक वस्तुओं का आनन्ददाहक दर्शन हमारे सामने उपस्थित होता है। ये आनन्द न तो इन्द्रियजन्य आनन्दों के समान बिल्कुल ठोस होते हैं और न बुद्धिजन्य

आनन्दों के समान सूक्ष्म । उनसे हमारी चित्ररंजनी वृत्तियों को सुख मिलता है । उनसे न तो हमारी बुद्धि पर ही जोर पड़ता है, और न हमारे मन पर विषय सुखों के समान अवसाद या प्रमाद उत्पन्न होता है । मानसिक शक्तियों को हल्का-सा व्यायाम देने के समान उनके द्वारा बिना अधिक परिश्रम या कठिनाई से हमारी मानसिक शक्तियाँ अपने अवसाद या आलस्य से जागृत हो जाती हैं ।

कहा जा चुका है कि प्राथमिक आनन्द बाह्य वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न होते हैं किन्तु वह कौन सी ऐसी वस्तु है जो उन्हें देखने पर हमारी कल्पना को उसका एडीसन के अनुसार उन वस्तुओं की महानता, विचित्रता और सुन्दरता ही उन्हें प्रेरित करती है । साथ ही दृष्टि द्वारा प्राप्त आनन्द दूसरी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्दों से और भी बढ़ जाता है । उदाहरण के लिए यह सुगंधित पदार्थ समीप हो तो कल्पना भी उत्तेजित होती है और दृश्यों के रंग-रूप भी प्रियतर हो जाते हैं । सूँघने और देखने की शक्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं । जिस प्रकार चित्त के भिन्न-भिन्न रंग एक-दूसरे से मिलकर चित्र के सौन्दर्य को उद्भासित करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय भी एक-दूसरे के सम्पर्क में आने पर अधिक आनन्द उत्पन्न करते हैं ।

प्राथमिक आनन्दों को उद्भासित करने में प्रकृति जितना काम करती है उतना कला-कृतियाँ नहीं करती । इस कारण वे इस विषय में प्राकृतिक वस्तुओं की अपेक्षा हीन ठहरती हैं । प्राथमिक आनन्द उत्पन्न करने में यदि कला सबसे अधिक सफल है तो वह है—स्थापत्य-कला । क्योंकि उसका सौन्दर्य आकार और अनुपात इन दो बातों से स्पष्ट होता है और ये दोनों ही दर्शनेन्द्रिय के विषय हैं ।

द्वितीय श्रेणी के आनन्द प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न होकर उनकी स्मृति द्वारा जागृत होते हैं । यह स्मृति भी या तो स्वयं उत्पन्न होती है अथवा किसी मूर्ति या चित्र के दर्शन या किसी वर्णन के सुनने से उत्पन्न होती है । दोनों ही यथार्थ वस्तुओं की प्रतिकृतियों से पैदा होते हैं । ये

प्रतिकृतियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो दर्शनेन्द्रिय से दिखने वाले पार्थिव पदार्थों से, जैसे कोई सुन्दर भवन या चित्र देखने से अथवा संगीत या कविता सुनने से। इन दोनों ही का यह कारण है कि हमारा मन मूल वस्तु से उत्पन्न होने वाले विचारों और इन प्रतिकृतियों (मूर्ति, चित्र, वर्णन या संगीत) से उत्पन्न विचारों की तुलना करता है।

इसके बाद एडीसन उन आनन्दों की चर्चा करता है जो शब्दों से उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार वह साहित्य-समीक्षा में उतरता है। इसमें वही सिद्धान्त लागू होता है जो कि अन्य कलाओं के सम्बन्ध में। काव्य की प्रेरणा भी दूसरी कलाओं ही के समान है किन्तु उसमें कुछ विशेषताएँ हैं।

काव्य में कल्पना-शक्ति दो उपकरणों से प्रगट होती हैं, एक तो वह कवि के मन में संचारित होती है और दूसरे श्रोता और पाठक के मन में। काव्य जिस कल्पना को प्रेरित करता है वह दूसरे प्रकार की प्रणाली है। पहली प्रणाली 'प्राथमिक आनन्द' है। यह आनन्द तभी उत्पन्न होता है जब उसे बाहिरी पदार्थों की उत्तेजना मिलती है। जहाँ यह बाहिरी प्रेरणा कला-कृतियों का रूप धारण करती है वहाँ उस प्राथमिक आनन्द में द्वितीय आनन्दों का भी मिश्रण हो जाता है, जो कि कला-कृतियों और मूल पदार्थों की तुलना से उत्पन्न होते हैं। जब शब्दों के द्वारा कला प्रकट होती है (जैसे काव्य में) और प्रतिकृति वर्णन का रूप धारण कर लेती है तब जो आनन्द उत्पन्न होते हैं वे केवल द्वितीय श्रेणी के आनन्द ही होते हैं। इस प्रकार काव्य का क्षेत्र केवल द्वितीय प्रकार के आनन्द में ही सीमित रहता है। पहली क्रिया (कवि के मन पर कल्पना के प्रभाव) के सम्बन्ध में एडीसन लिखता है कवि को अपनी कल्पना के बनाने में वैसा ही परिश्रम करना चाहिए जैसा कि एक दार्शनिक अपनी बुद्धि को विकसित करने में करता है। उसे प्रकृति के दृश्यों से प्रेम होना चाहिए और उसे ग्रामीण जीवन से भी धनिष्ठ परिचय प्राप्त करना चाहिए। इनके अतिरिक्त उसे राज-समारोह की बातें जानना भी आवश्यक है। उसे कला चित्र और स्थापत्य-कला के विषय में भी दक्ष होना जरूरी है। इन बातों से मनुष्य के विचारों का विकास

और उसकी कल्पना का विस्तार होता है और यदि कवि इनका ठीक उपयोग कर सका तो उसकी कृति में भी इन कलाओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता ।

इस विकसित कल्पना का क्या-क्या उपयोग हो सकता है उसके विषय में एडीसन का कथन है कि मनुष्य का मन पार्थिवता में अधिक पूर्णता चाहता है किन्तु उसके उच्च विचारों और आनन्द-भावना के अनुकूल प्रकृति में वे दृश्य नहीं मिलते । दूसरे शब्दों में, मनुष्य की प्रतिभा पार्थिव जगत् में दीखने वाली वस्तुओं से कहीं महान्, अद्भुत और सुन्दर वस्तुओं की कल्पना कर सकती है और पार्थिव वस्तुओं में दोष भी खोज सकती है । इसलिए कवि का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने विचारों के अनुरूप कल्पना को स्वच्छन्द छोड़ दे, प्रकृति की अपूर्णता को पूर्ण करे और प्रकृति से भी अधिक सौन्दर्य का सृजन करे । कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जैसे प्रकृति एक ऋतु के बाद धीरे-धीरे दूसरी ऋतु में परिणित होती है या वह जिस क्रम से पुष्प-पल्लवों या लता-गुल्मों का सृजन करती है उसी क्रम का वह भी अनुकरण करे । उसे तो यह स्वच्छन्दता प्राप्त है कि वर्णन में वसन्त और शरद् के सौन्दर्य का एक साथ समावेश कर डाले और उन्हें वर्ष भर वैसा ही स्थिर रखे ! वह एक ही समय में कमल और कुमुदिनी को विकसित करा सकता है । इसी प्रकार वह आम्रमंजरी और पारिजात की सुगन्धि से एक ही समय अपने काव्य-कानन को सुगन्धित कर सकता है । इतना ही नहीं वरन् वह अपने काव्योद्यान को कल्पना के नये-नये पुष्पों से सुसज्जित कर सकता है । जिनकी सुगन्धि और रूप-रंग प्रकृति के नन्दन वन को मात करते हैं । कवि की इच्छानुसार खंजन और कोकिल एक ही ऋतु में अपने कल-कूजन से जगत् को मुखरित कर सकती हैं । कवि के लिए स्थान या समय की दूरी कोई अर्थ नहीं रखती । उसका मेघदूत एक ही उड़ान में उज्जयिनी से अलका तक पहुँच सकता है । वह मरुस्थल में भी मन्दाकिनी को प्रवाहित कर सकता है और भूमध्य रेखा पर भी मलय मारुत का संचार करा सकता है । मतलब यह कि वह अपनी कल्पना-शक्ति से प्रकृति में चाहे जिस प्रकार के परिवर्तन कर

सकता है। शर्त यही है कि वे परिवर्तन इस प्रकार के न हों जो सीमा का अतिक्रमण कर जायें।

दूसरी क्रिया श्रोता या पाठक पर कल्पना का प्रभाव है। इस विषय में एडीसन का कथन है कि चुने हुए शब्दों में इतनी शक्ति है कि अच्छे वर्णन से हमें जो विचार प्राप्त होते हैं वे कभी-कभी उस वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन से भी नहीं होते। पाठक को ऐसा मालूम होता है कि उस दृश्य का चित्र कहीं अधिक गहरे रंगों में उसके हृदय-पटल पर शब्दों की तूलिका से चित्रित है। इस प्रकार कवि प्रकृति से भी आगे बढ़ जाता है। वह प्रकृति का अनुसरण अवश्य करता है किन्तु अपनी कल्पना की तूलिका से उसमें गहरे रंग भरकर उसके सौन्दर्य को इतना सजीव कर देता है कि प्रत्यक्ष वस्तु से उत्पन्न मूर्तिर्था भी उसके सामने फीकी पड़ जाती हैं। उसका कारण यह होता है कि वस्तु के दर्शन में हमें उक्त वस्तु के उतने ही भाग का आकलन होता है जितना कि हमारे दृष्टि-पथ पर आता है। किन्तु उसी के काव्यात्मक वर्णन में कवि अपनी इच्छानुसार उसका सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने रखता है। और ऐसे-ऐसे अंग-प्रत्यंगों पर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। जन पर कि प्रत्यक्ष दर्शन से हमारा कुछ ध्यान ही नहीं जाता। प्रत्यक्ष दर्शन में हमारे मन में उस वस्तु के सम्बन्ध में केवल दो-चार सीधे-सीधे विचारों का उदय होता है। किन्तु जब एक कवि उस वस्तु का चित्र हमारे सामने रखता है तब उस वस्तु के सम्बन्ध में बहुत से मिश्रित विचार हमारे में उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा, ऐसे विचारों का उद्भव हो जाता है जो कि हमारी कल्पना को ही अधिक प्रभावित करते हैं।

यहाँ पर एडीसन ने डेकार्टेज के तात्त्विक सिद्धान्तों का उपयोग किया है। कला को आध्यात्मिक रूप देने के लिए उसने काण्ट को विचारों की समता के सिद्धान्त का आधार भी लिया है। उसके आधार पर उसने सिद्ध किया है कि इन्द्रियों के सम्पर्क से जिन वस्तुओं या घटनाओं का चित्र हमारे मन पर पड़ता है उनमें आनन्ददायक वस्तुओं की छाप ही सबसे ऊपर रहती है, यहाँ तक कि जब कभी कवि भयानक या वीभत्स वस्तुओं को भी हमारे सामने

रखता है तो उसके कवित्व के प्रभाव से वे भी आनन्ददायक हो जाती हैं ।

इस प्रकार एडीसन ने अपनी मनोवैज्ञानिक खोजों का साहित्य में प्रयोग करते हुए समालोचना के क्षेत्र में कल्पना के नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं । अन्त में कल्पना के सम्बन्ध में उसका एक उदाहरण देकर इस अध्याय को समाप्त करते हैं—कल्पना को प्रभावित करने की शक्ति ही वह वस्तु है जो कि हमारी सद्भावना को सँवारती है और इसी मात्रा में कवियों के काव्य कम या अधिक रुचिकर होते हैं । यह शक्ति वैसे तो सभी रचनाओं को चमका देती है किन्तु काव्य की तो वह जीवन-प्राण और परिपूर्णता ही है । जहाँ कल्पना अपने जाज्वल्यमान रूप में विराजती है वहाँ वह कवियों और काव्यों को युगों के लिए अमर कर देती है । दूसरे काव्य-गुणों के वर्तमान रहने पर भी यदि उनमें केवल कल्पना का अभाव हो तो वे बिल्कुल नीरस और निस्तेज हो जाते हैं । कल्पना में सृजन-शक्ति वर्तमान है । कल्पना से एक नवीन अस्तित्व उत्पन्न हो जाता है । यथार्थता के जगत् में जिन वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं वे भी मूर्तिमान हो उठती हैं । इससे प्रकृति में नवीनता और सृष्टि में विविधता उत्पन्न होती है । संक्षेप में, संसार के दृश्यों को सौन्दर्य-मय करने के लिए अथवा मानसिक जगत् को महिमामय दृश्यों से सज्जित करने के लिए कल्पना ही एक मात्र साधन है ।

षष्ठ अध्याय

कलात्मक आलोचना का विकास

चित्र-कला और काव्य-कला

एडीसन के उद्योग से आलोचना आधुनिक विचारधारा के अनुरूप बन गई और आलोचकों ने उसकी कसौटी पर सभी प्रकार के साहित्यों को कसना शुरू कर दिया। यह निश्चय हो गया कि काव्य की प्रेरणा (अपील) न तो बुद्धि के लिए है और न इन्द्रियों के लिए। वह प्रधानतया कल्पना ही को उत्तेजित करती है। यही बात अन्य ललित-कलाओं के लिए भी उतनी ही लागू समझी गई। एडीसन के बाद उसके सिद्धान्तों को निश्चयात्मक रूप देना, भिन्न-भिन्न कलाओं के उपयुक्त प्रणालियों का वर्गीकरण करना, उनकी मर्यादाओं को निश्चित करना तथा कलाकार के मन में कल्पना क्या काम करती है इस बात पर निर्णय देना बाकी रह गया।

इस कार्य के लिए कलात्मक आलोचना के उपायों को काम में लाना आवश्यक था। यह कार्य जर्मनी के प्रसिद्ध आलोचक लेसिंग ने किया। उसने सन् १७६६ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लोकून (Locon) लिखी जिसमें उसने बतलाया कि चित्र-कला और काव्य-कला के तरीकों में क्या अन्तर है। उनका मुख्य भेद यह है कि कविता में अनुकरण-कला का क्रम-विकास होता है तथा कल्पना के द्वारा चित्र-कला और काव्य-कला निश्चित की जा सकती है।

इस भेद को समझने के लिए यह निश्चित कर लेना जरूरी है कि दोनों कलाएँ किस दर्जे तक और किस हद तक इन्द्रियों और कल्पना-शक्ति पर आधारित हैं। लेसिंग के मत का आधाग एडीसन का नया सिद्धान्त ही था, इसमें कोई सन्देह नहीं। अपनी पुस्तक में वह सिद्ध करता है कि कलाकृति का सौन्दर्य हमारी दृष्टि से प्रगट नहीं होता बल्कि कल्पना की दृष्टि से प्रगट होता है। इस प्रकार वह इस बात को मानता है कि कला मुख्यतया कल्पना-शक्ति

ही को अपील करती है। आगे चलकर वह बतलाता है कि चित्र-कला की अपेक्षा काव्य-कला में यह अपील अधिक है। इसे समझाते हुए वह कहता है, “वाणी का संकेत मनुष्य स्वयं निर्माण करता है। वाणी के साधन में शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का वर्णन और साथ ही प्रकृति में उनका प्रदर्शन करना नितान्त सम्भव है। किन्तु वाणी का यह गुण काव्य का मुख्य विषय नहीं है। कवि का मुख्य कार्य यह नहीं है कि उसे केवल लोग समझ सकें, केवल स्पष्टता ही उसके लिए सब कुछ नहीं है। कवि का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि जो विचार वह हमारे सामने उपस्थित करे वे इस प्रकार चमक उठें कि हम यह समझने लगें कि हम वर्णित वस्तुओं का सच्चा और प्रत्यक्ष दर्शन अपने सामने कर रहे हैं। इस तन्मयता में हम यह न भूल जायें कि हम कोई शाब्दिक वर्णन सुन रहे हैं; बल्कि यह अनुभव हो कि उस वस्तु को प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

काव्यात्मक चित्र का आधार यही सिद्धान्त है ! इसी सिद्धान्त से चित्र-कला और काव्य-कला का भेद प्रगट होता है। लेसिंग बतलाता है कि चित्रकार और कवि किस हद तक वस्तु की प्रतिकृति सफलतापूर्वक बना सकते हैं। इसी दृष्टि से वह आलोचना के सिद्धान्त निर्धारित करता है। अपनी पुस्तक के आरम्भ में वह मूर्ति-कला का वर्णन करते हुए वर्जिल कृत लोकून के वर्णन और किसी मूर्तिकार द्वारा निर्मित लोकून की मूर्ति की तुलना करता है। मूर्ति में ‘लोकून’ अपने दो पुत्रों के साथ दो विषधियों द्वारा मृत्यु के पाश में बँधा हुआ है। ग्रीक कथानक से प्रगट होता है कि केवल लोकून के पुत्रों ही को सर्पों ने डसा था। इससे यह प्रगट होता है कि या तो वर्जिल ने मूर्तिकार का अनुकरण किया अथवा मूर्तिकार ने कवि का। इसका निर्णय करने में लेसिंग ने मूर्ति-कला और काव्य-कला की मर्यादाओं का निर्धारण किया है। यदि हम यह देखें कि मूर्ति की वर्जिल ने अपने वर्णन में अधिक फेर फार किये हैं तो हम इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि कवि ने मूर्तिकार का अनुकरण किया और यदि कविता की अपेक्षा मूर्ति में अधिक फेर फार दृष्टिगोचर हो तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मूर्तिकार ने कवि का अनुकरण किया है। इससे

कविता और मूर्ति-कला की मर्यादाओं का भी निर्णय हो जायगा ।

‘लेसिंग’ समझता है कि कवि के वर्णन की अपेक्षा मूर्तिकार ने मूर्ति में बहुत महत्वपूर्ण फेरफार किये हैं । पहले तो वर्जिल ने मृत्यु-पाश में बँधे हुए ‘लोकून’ के मुख से करुण क्रन्दन कराया है किन्तु लोकून की मूर्ति पर शान्ति और संयम विराजमान है । इस परिवर्तन से केवल मूर्ति-कला की मर्यादा ही प्रगट होती है । मूर्तिकार यदि मूर्ति में क्रन्दन का भाव प्रगट करना चाहता तो वह बहुत विकृत रूप धारण कर लेती है और उसका प्रभाव दर्शकों पर अच्छा नहीं पड़ता । मूर्ति से सौन्दर्य और दुख के सम्मिलित भाव प्रगट होने से दर्शकों के हृदय में करुणा का भाव जागृत होता है किन्तु क्रन्दन करती हुई मूर्ति को देखकर घृणा और भय के भाव जागृत होते । कष्ट के दर्शन से सौन्दर्य-भावना जागृत न होकर विराग और घृणा ही जागृत होती ।

दूसरे, सर्प के वेष्टन के विषय में भी मूर्ति में और कविता में भेद है । कवि ने वर्णन किया है कि सर्पों ने दो लपेटों में ‘लोकून’ के मध्य भाग को और दो में उसकी गर्दन को लपेटा था । अगर इसी बात को मूर्तिकार अपनी मूर्ति में लाने का प्रयत्न करता तो मूर्ति का मुख विष से भर जाने के कारण बिल्कुल विकृत हो जाता और दो लपेटों के कारण ‘लोकून’ का सारा शरीर ही ढँक जाता जिससे उसके सौन्दर्यमय अंगों का ठीक-ठीक प्रदर्शन न हो पाता । गर्दन में सर्प के लपेटों से मूर्ति के सुन्दर चेहरों की अपेक्षा सर्पों के भयंकर मुखों का प्रदर्शन ही सर्वोपरि हो जाता । इस प्रकार मूर्ति-साम्यता और शान्ति के प्रदर्शन के बदले भयंकरता और घृणा ही का रूप प्रगट करती है । इसे बचाने के लिए मूर्तिकार ने अनुभव किया कि कला की दृष्टि से कवि के वर्णन में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है । इसी उद्देश्य से उसने सर्पों के लपेटों को कमर और गर्दन से निकालकर पैरों और जाँघों तक सीमित कर दिया है जिससे मूर्तियों के मुखों का भाव भी नहीं बदला और साथ ही उसमें अंगों पर उचित दबाव और आवश्यक आवरण भी आ गया । इन परिवर्तनों के कारण मूर्ति को देखने से ऐसा जान पड़ता है मानों सर्प के

वेष्टन मूर्ति को उड़ने से रोककर एक जगह स्थिर कर रहे हैं। इससे भी मूर्ति-कला के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

मूर्ति और कविता में तीव्र भेद यह है कि मूर्ति में कोई वस्त्र नहीं है जबकि कवि ने सुन्दर वस्त्रों का वर्णन किया है। इस भेद से भी हमें मूर्तिकला और काव्य के भेद का स्पष्टीकरण होता है। कवि के लिए परिधान कोई आवरण का काम नहीं करता। कल्पना की पारदर्शक दृष्टि से वह सब आवरणों को भेद देता है। इसीलिए वस्त्रों से कवि के वर्णन में कोई आघात नहीं पड़ता। किन्तु मूर्तिकार को लोकन की मानसिक वेदना को व्यक्त करना था और इसके लिए उसे अंगों की सिकुड़न और फेंठन बतलाना जरूरी था। इस प्रकार 'लेसिंग' की राय में मूर्तिकार ने ही कवि को अनुकरण किया है। यह बात उसने कला की आवश्यकताओं से भी सिद्ध कर दी है। पहले तो यह देखना है कि 'वर्जिल' ने 'लेकून' से करुण क्रन्दन क्यों कराया? कवि के लिए यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। किन्तु यदि उसने मूर्ति के अनुकरण पर अपना वर्णन किया होता तो वह उसकी सौम्यता और शान्ति से अवश्य प्रभावित हुआ होता। मूर्ति की करुणा और सौन्दर्य (जो कि 'लेकून' की सहन-शक्ति और महानता को प्रकट करते हैं) के स्थान पर अधैर्य और भय को प्रकट करने वाले क्रन्दन को वह कभी स्थान न देता। दूसरे, यदि कवि ने मूर्ति के दर्शन किये होते तो वह मृत्यु-पाश में बँधे हुए तीन सुन्दर मुखों के सौन्दर्य का अवश्य ही स्पष्ट वर्णन करता। तीसरे, कवि ने मूर्ति को देखने के बाद सपों के वेगनों में भी परिवर्तन न किया होता। इन सब बातों पर विचार करने से यही अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि मूर्तिकार ही ने कवि का अनुकरण किया है। किन्तु साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि मूर्तिकार ने जो परिवर्तन किये वे केवल अनुकरण की इच्छा ही से नहीं किये किन्तु कला की दृष्टि से भी वे परिवर्तन आवश्यक थे। यदि हम यह माने कि कवि ने ही मूर्तिकार का अनुकरण किया तो उन परिधानों का कोई विशेष अर्थ बताना कठिन होगा।

इस निर्णय पर पहुँचते हुए भी (कि कवि ने मूर्तिकार का अनुकरण किया) लेसिंग यह नहीं कहता कि यह मूर्तिकार का कोई दोष था बल्कि वह उसकी कला के लिए आवश्यक था । इस पर से कवि और चित्रकार के गुणों का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है । वह प्रश्न करता है—“मूर्तिकार के अनुकरण करने पर भी हमारे मन में उसके प्रति कोई निकृष्टता का भाव क्यों उत्पन्न होता है ?” इसका उत्तर यही है कि मूर्तिकार के लिए कल्पना करना इतना कठिन नहीं है जितना कि इस कल्पना को मूर्त रूप देना । इसके विरुद्ध कवि के लिए किसी विचार को मूर्तमान करना उतना कठिन नहीं है जितना कि उसके लिए उस वस्तु को कल्पना करना । इससे वह दो नतीजे निकालता है—(१) आविष्कार और नवीनता चित्रकार का मुख्य गुण नहीं है और (२) किसी वस्तु के साथ घनिष्ठता उस कला में बहुत सहायक होती है । इसके बाद वह कलाकार की वस्तु को मूर्त रूप देने की कला को स्पष्ट करने के लिए होमर के कुछ दृश्यों और केलस (Caylus) द्वारा चित्रित उन्हीं दृश्यों के चित्रों की तुलना करता है । प्रश्न होता है—चित्रकार ने चित्र बनाने के लिए होमर के वर्णनों में से केवल खास-खास वर्णन ही क्यों चुने और शेष को क्यों अलग कर दिया ? कारण यही है कि काव्यात्मक चित्र और कलात्मक चित्र में बहुत अन्तर है । होमर ने बहुत सी अदृश्य क्रियाओं और व्यक्तियों का भी वर्णन किया है जिनका कि चित्रण करना असम्भव था । केलस ने उन्हीं चित्रों को चुना जिनका चित्रित करना सम्भव था ।

केलस ने यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि जो वर्णन चित्रित किये जा सकें वे ही यथार्थ में कवित्वपूर्ण हैं । अर्थात् जिस कवि के काव्य में जितने अधिक चित्रण-योग्य स्थल हों वह उतना ही बड़ा कवि है । लेसिंग इस चित्रण-योग्यता के कवित्व की कसौटी नहीं मानता क्योंकि उसकी सम्मति में प्रत्येक शब्द-चित्र को पार्थिव-चित्र-फलक पर नहीं उतारा जा सकता । कवि के सूक्ष्म सागोपाग वर्णन भी तो एक प्रकार के चित्र ही हैं । उनसे भी हम अपना भान भूलकर यह समझने लगते हैं कि हम उस घटना को प्रत्यक्ष देख रहे हैं । जिस प्रकार चित्रकार को किसी काव्य के सभी वर्णन चित्रण के योग्य नहीं

दीखते उसी प्रकार कवि को भी प्रत्येक चित्र वर्णन के योग्य नहीं जान पड़ता। होमर के काव्य में 'पेण्डरस' (Pandras) का वर्णन सबसे उत्तम और प्रभावोत्पादक माना जाता है। उसमें धनुष खींचने से लेकर बाण चलाने तक की प्रत्येक क्रिया एवं प्रतिफल का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। किन्तु इतने उत्तम वर्णन का केलस ने कोई चित्र नहीं खींचा। इसका क्या कारण है? क्या वह उसे चित्र-कला के अनुपयुक्त समझता था। उसके बदले उसने देव-सभा का चित्रण किया है। उसका क्या कारण है? दोनों चित्रों की तुलना करने से हमें चित्र-कला और काव्य-कला का भेद समझ में आ जायगा।

बात यह है कि कविता उसी वस्तु का अधिक वर्णन करती है जो कि गतिशील हो और चित्र-कला केवल स्थिर वस्तु ही का चित्रण कर सकती है। 'केलस' होमर के बाण चलाने वाले वर्णन का चित्रण इसीलिए नहीं कर सका कि उसमें एक दृश्यमान और प्रवहमान क्रिया का वर्णन है जिसकी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ लगातार एक के बाद एक होती चली जा रही हैं। देव-सभा का चित्रण इसीलिए हो सका कि उसमें एक स्थायी क्रिया का वर्णन है और उसके विभिन्न भाग स्पष्ट रूप से अलग-अलग चित्रित किये जा सकते हैं। किसी स्थिर आकृति अथवा दृश्य के वर्णन करने में कविता उतनी समर्थ नहीं होती जितनी कि चित्र-कला। उसी प्रकार किसी बाह्य क्रिया या मानसिक क्रिया का वर्णन करने में कविता चित्र-कला की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। कविता उन क्रियाओं के द्वारा पदार्थों का वर्णन करती है जोकि उनकी विशेषता प्रगति या प्रवाह के रूप में प्रकट करती है।

चित्र-कला उन पदार्थों के द्वारा क्रियाओं का वर्णन करती है जो कि स्थिर होते हुए भी गति को सूचना देते हैं। इस प्रकार इन दोनों कलाओं का भेद प्रकट होता है। किन्तु इन दोनों के क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे की सीमाओं को दाबते-से हैं और इसीलिए उनकी मर्यादाओं और क्षेत्रों को विभाजित करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जाता है।

दोनों में समानता नहीं है कि वे वस्तुओं की प्रतिकृति को हमारे सामने रखती हैं। किन्तु दोनों के क्षेत्र अलग-अलग होने के कारण आवश्यक है कि

उन वस्तुओं का वही पहलू चुना जाय जो उनके लिए उपयुक्त हो। 'लेसिंग' के अनुसार कवि को उन्हीं शब्दों और ध्वनियों का प्रयोग करना चाहिए जो कि एक के बाद एक लगातार उच्चरित हो। इसी प्रकार चित्रकार को ऐसे ही रूपों और रंगों का प्रयोग करना चाहिए जो कि एक साथ ही प्रकट हो सकें। यदि कवि का क्षेत्र समय की परम्परा है तो चित्रकार का क्षेत्र स्थान की स्थिरता है। यदि कविता में वस्तु की क्रिया प्रधान है तो चित्र में स्वयं वस्तु ही मुख्य है। यदि हम 'वस्तु' और 'क्रिया' इन दोनों के असली रूप को और ध्यान दें और उनकी परिभाषा करने बैठें तो इस प्रकार कहा जा सकता है : जिन पदार्थों के भिन्न-भिन्न अंग एक साथ ही वर्तमान हों वे वस्तुएँ हैं। और जो वस्तुएँ या उनके विभिन्न अंग लगातार या क्रमागत हों वे क्रियाएँ हैं। इस प्रकार चित्र-कला का क्षेत्र वस्तु और कविता का क्षेत्र क्रिया ठहरती है।

वस्तु का अनुकरण तो दोनों ही कलाएँ करती हैं, किन्तु चित्र-कला का अनुकरण 'द्वितीय कोटि' का होता है। क्योंकि वस्तुओं का अस्तित्व केवल स्थान (Space) ही में नहीं वरन् काल (Time) में भी है। वे प्रगतिशील या प्रवहमान हैं। प्रत्येक क्षण में उनका स्वरूप बदलता रहता है और उनका दूसरी वस्तुओं से सम्बन्ध भी परिवर्तित होता रहता है। उनका यह क्षणिक स्वरूप और सम्बन्ध उनके पिछले स्वरूप और सम्बन्ध का परिणाम भी है और आगे आने वाले स्वरूप या क्रम का कारण भी है। इस प्रकार उन वस्तुओं का स्वरूप एक क्रमागत क्रिया का केन्द्र है। इस दृष्टि से चित्र-कला क्रियाओं का अनुकरण तो कर सकती है किन्तु वह वस्तुओं का केवल उतना ही उपयोग करती है कि जिससे वे क्रियाएँ सूचित मात्र हो जायें। उदाहरण के लिए बाण चलाने वाले के चित्र में यद्यपि केवल धनुष खींचने की क्रिया का चित्र हमारी आँखों के सामने आता है, किन्तु इससे बाण छूटने आदि आगे की क्रियाएँ भी सूचित होती हैं।

दूसरी और क्रियाएँ केवल अपने आप अस्तित्व में नहीं जा सकतीं। उनके लिए प्राणियों या वस्तुओं के आधार की आवश्यकता होती है। वस्तुओं

का आधार होने के कारण कविता उन वस्तुओं की प्रतिकृति भी हमारे सामने उपस्थित करती है। इस कार्य में उसे वस्तुओं को सूचित करने के लिए क्रियाओं का ही उपयोग करना पड़ता है। दोनों बातों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हम कह सकते हैं कि चित्र-कला क्रियाओं को प्रकट करने के लिए वस्तुओं को साधन बनाती है और कविता वस्तुओं को स्पष्ट करने के लिए क्रियाओं का उपयोग करती है।

चित्र-कला के लिए यह आवश्यक होता है कि चित्रकार किसी एक खास समय को चुन ले, क्योंकि वह एक बार में केवल एक ही समय की घटना को चित्रित कर सकता है। इस कारण उसे ऐसे ही क्षण को चुनना पड़ता है जो कि बहंत ही सारगर्भित हो और जो स्पष्ट रूप से पिछली और आगे होने वाली घटनाओं का निर्देशन करे। इसी प्रकार कवि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी कविता के लिए वस्तुओं का कोई खास गुण चुन ले और वह गुण भी इस प्रकार का हो जो कि उस वस्तु का पूर्ण चित्र हमारे सामने रख दे। उदाहरण स्वरूप, यदि चित्रकार को किसी जहाज का चित्र खींचना है तो वह उसके उतने ही भाग को चित्रित करेगा जिसे दर्शक एक ही क्षण में और एक ही दृष्टिकोण से देख सके। किन्तु यदि कवि जहाज का शब्द-चित्र खींचेगा तो उसके किसी खास गुण को चुनेगा। महाकवियों ने इसी विशेषता के कारण सफलता प्राप्त की है। 'मेरीडिथ' के मतानुसार कवि की सफलता एक चित्र को उपस्थित करने में नहीं किन्तु आन्तरिक भावना की जागृति करने में है। क्योंकि हमारा चंचल चित्त लम्बे वर्णनों या शब्द-चित्रों पर स्थिर नहीं रह सकता। इसी कारण जो कवि एक ही शब्द या वाक्य में हमारी कल्पना को उद्भासित कर देते हैं उसी का शब्द-चित्र हमारे स्मृति-फलक पर चिरस्थायी होता है।

कोरे वर्णन, चाहे वे शारीरिक सौन्दर्य के हो अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य के, यथार्थ में काव्य-कला के क्षेत्र से बाहर हैं। यह बात नहीं कि भाषा किसी वस्तु का पूर्ण या सांगोपाग वर्णन करने में असमर्थ है। वरन् भाषा को ऐसे समर्थ शब्द-संकेतों की सहायता प्राप्त है जिनसे कवि अपने हृदय के सब भावों

को प्रकट कर सकता है। किन्तु 'लेसिग' इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि केवल भाषा ही कविता की एकमात्र माध्यम है। क्योंकि, शाब्दिक वर्णन में वह कल्पना की उड़ान नहीं होती जो कि कविता का मुख्य तत्व है। यदि किसी वर्णन को कविता का नाम दिया जा सकता है तो यह आवश्यक है कि वह अवकाश (Space) के विस्तार को काल की अवधि (Duration of time) के द्वारा व्यक्त करे। इसके समर्थन में बहुत से कवियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। जब होमर वस्तुओं के स्वरूप का वर्णन करता तब वह उनकी क्रियाओं ही के द्वारा करता है। उदाहरण के लिए जब वह 'सिकलिज की ढाल' का वर्णन करता है तब वह केवल ढाल के पूर्ण रूप ही का चित्र नहीं खींचता वरन् जिन प्रक्रियाओं से वह बनाई और सजाई गई थी उनका भी विस्तृत वर्णन करता है। होमर स्थिर वस्तुओं को गतिशील बना देता है और इस प्रकार किसी स्थिर वस्तु के नीरस चित्र के बदले उसका जीवित-जागृत क्रियाशील चित्र हमारे सामने रखता है।

शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करते समय यह बात होमर के सम्बन्ध में अधिक सत्य उतरती है। 'लेसिग' के शब्दों में जो कवि भिन्न-भिन्न अंगों के नख-सिख के क्रम-वद्ध वर्णन द्वारा सौन्दर्य का चित्रण करता है वह असली अर्थ में सौन्दर्य को प्रकट नहीं करता। वह अनुभव करता है कि वे अंग एक साथ ही वर्णन किये जाने पर वह प्रभाव उत्पन्न नहीं करते जो कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अंग-स्वरूप चित्रित करने से उत्पन्न होता है। उन अंगों का सौन्दर्य एक सम्पूर्ण रूप के अंगभूत होने ही में है।

'होमर' जब हेलन के सौन्दर्य का वर्णन करता है तब उसके स्वरूप का वर्णन नहीं करता वरन् उस प्रभाव का वर्णन करता है जो कि उसके दर्शन से दूसरों के मन पर पड़ता है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में सीमित होकर भी कवि के पास सौन्दर्य-प्रकाशन की शक्ति मौजूद है। इतना ही नहीं वरन् उसके पास वह शक्ति है जो कि चित्रकार की पकड़ में भी नहीं आ सकती और वही कवि की विशेषता है। 'लेसिग' के मतानुसार असली सौन्दर्य स्थायित्व में नहीं वरन् गतिशीलता में है। इसलिए सौन्दर्य-दर्शन चित्रकार के लिए उतना सरल

नहीं जितना कि कवि के लिए है। चित्रकार के लिए उसके चित्र स्थिर होते हैं। वे केवल गति की सूचना दे सकते हैं। उसके हाथ में रमणीयता मानो व्यंग्य-चित्र बन जाती है। किन्तु कवि के हाथों में वह अपने असली रूप में प्रकट होती है। वह प्रत्येक क्षण नये-नये रूप धारण करती रहती है जो कि रमणीयता का असली रूप है। श्री हर्ष के शब्दों में—

“क्षणे क्षणे यन्नवतामुनैति तदेव रूप रमणीयतायाः।”

इसके बाद लेसिंग इस विषय की चर्चा करना है कि शारीरिक कुरूपता के प्रदर्शन में चित्रकार और कवि दोनों में से कौन अधिक सफल होता है। इस क्षेत्र में भी चित्रकार की अपेक्षा कवि ही अधिक सफल है। अरस्तू और उसके आधार पर एडीसन ने बतलाया है कि कुत्सित और कुरूप वस्तुएँ भी जब कला के रूप में प्रदर्शित की जाती हैं तब उन पर भी कलाकार के भावों का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहता। यह प्रभाव कविता में अधिक लक्षित होता है। इसी के आधार पर ‘लेसिंग’ का मत है कि कवि के हाथों में पड़कर कुरूपता भी कम होती जाती है यहाँ तक कि वह कुरूपता रह ही नहीं जाती।

कवि तो कुरूपता का भी सीधा उपयोग कर लेता है। इतना ही नहीं बरन् वह उसका सदुपयोग करके हास्य और भयानक रसों की सम्मिलित भावनाएँ उत्पन्न करता है। केवल कुरूपता से हास्य उत्पन्न नहीं होता क्योंकि कुरूपता अपूर्णता ही का दूसरा नाम है। हास्य उत्पन्न करने के लिए पूर्णता और अपूर्णता में विरोध बतलाना बहुत आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह विरोध भी तीव्र नहीं होना चाहिए। पिछले अध्याय में एडीसन के मतानुसार हमने विनोद की व्याख्या देखी है। उसके मत का सार यही है कि विचारों का साम्य इतना छिपा हुआ होना चाहिए कि जिसमें आश्चर्य के भाव का उद्रेक हो। लेसिंग का मत है कि केवल कुरूप होने से ही कोई वस्तु हास्यास्पद नहीं हो जाती। वह होमर के एक पात्र ‘थेर साइट्स’ का उदाहरण देता हुआ बतलाता है कि वह केवल कुरूपता के कारण हास्यास्पद नहीं बनता (यद्यपि कुरूपता भी उसका एक आवश्यक उपकरण है)। शारीरिक कुरूपता के साथ उसकी चारित्रिक दुर्बलता और दोनों के विरोध में उसकी

आत्मश्लाघा तथा वाचालता—ये मिलकर उसे हास्यास्पद बनाती हैं।

भयानकता जब उत्पन्न होती है जब यह घृणा या कुरूपता दुख से संयुक्त हो जाती है। हास्य उत्पन्न करने के लिए कुरूप और रूपवान के बीच में विषमता उत्पन्न करना तो आवश्यक है ही, किन्तु यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि कहीं वह हमारी सहानुभूति के बदले करुणा उत्पन्न न हो जायगी। अरस्तू ने भी इसका समर्थन किया है।

कहा जा चुका है कि चित्र-कला की मर्यादा के कारण चित्रकार कुरूपता के उपयोग के सम्बन्ध में कवि के समान स्वच्छन्द नहीं है। 'लेसिंग' के शब्दों में चित्रकार अनुकरण के रूप में तो कुरूपता को प्रकट कर सकता है किन्तु कला के रूप में ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि जिस प्रकार कुरूप वस्तुओं को देखने से हम में घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार चित्र में उन वस्तुओं की प्रतिकृति देखकर भी वही भाव उत्पन्न होंगे। चित्र-कला एक ललित-कला है। अतः उसके लिए हास्य या भय उत्पन्न करने के लिए भी कुरूप या घृणित वस्तु का उपयोग करना उचित नहीं है चाहे उससे कितना ही आकर्षण और मनोरंजन क्यों न उत्पन्न हो। इस प्रकार हास्य और घृणा की भावनाएँ उत्पन्न करने के लिए कविता के समान चित्र-कला समर्थ नहीं है। कविता में वस्तु की कुरूपता कम हो जाती है क्योंकि उसके अंग-प्रत्यंगों का क्रमागत प्रदर्शन होता है। इसलिए वह दूसरे रूपों से मिलकर नवीन और विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। चित्र में यह बात नहीं होती। कुरूप वस्तु के चित्र में कुरूपता अपने पूर्ण रूप में प्रकट हो उठती है और प्रत्यक्ष वस्तु से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करती है। उसकी कुरूपता अन्त तक केवल हास्यास्पद ही नहीं रह जाती वरन् हमारे मन में ऐसी तीव्र अरुचि का भाव उत्पन्न करती है कि जो केवल हास्यास्पद था वह एकदम घृणास्पद बन जाता है। यदि यह कुरूपता हानिकारक हुई तो भय का भाव कम होते-होते केवल कुरूपता ही का स्थिर रूप कायम रह जाता है। इस प्रकार 'लेसिंग' ने अपनी पुस्तक में उक्त गहन विषय का विशद विवेचन किया है जो कि कठिन और दुरूह होते हुए भी मौलिक और प्रभावशाली है।

सप्तम अध्याय

तात्त्विक समालोचना का विकास

लेसिंग के पचास वर्ष बाद विक्टर कजिन्स ने सौन्दर्य और कला का नियमित और सम्पूर्ण सिद्धान्त हमारे सामने रखा। दोनों में अन्तर यही था। लेसिंग के विचार अरस्तू की विचारधारा के अनुकूल थे और कजिन्स के सिद्धान्त प्लेटो की। दोनों की तुलना करने पर जान पड़ता है कि लेसिंग केवल एक कलाकृति के अध्ययन से प्रारम्भ करता है किन्तु कजिन्स सम्पूर्ण सौन्दर्य के सिद्धान्त ही को लेकर चलाता है। लेसिंग अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए अरस्तू के समान मौजूदा कलाकारों की कृतियों से उदाहरण देता है जबकि कजिन्स की प्रणाली प्लेटो के समान आदर्शवादी है। कजिन्स के सिद्धान्त यद्यपि लेसिंग की अपेक्षा कम क्रियात्मक और (exact) उपयुक्त हैं तो भी उनका प्रयोग विस्तृत क्षेत्र में किया जा सकता है और उनका महत्व भी स्थायी है।

कजिन्स ने सन् १८५३ में फ्रेंच में जो ग्रन्थ प्रकाशित कराया उसमें बहुत विस्तृत और सूक्ष्म रीति से प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उसके मुख्य स्तम्भ हैं—सत्य, शिव और सुन्दर। इस प्रकार उसने सुन्दर को तत्त्वज्ञान के एक अविभाज्य अंग के रूप में उपस्थित किया है। उसका दावा है कि प्लेटो और अरस्तू ने जिन बातों को भुला दिया था उन्हीं की उसने चर्चा की। हबिन्सन रीड और कान्ट ने अपने तत्त्वज्ञान में सौन्दर्य को अवश्य स्थान दिया है, यद्यपि वे आत्मा और प्रकृति में सौन्दर्य का प्रकाश देखते थे, किन्तु वे भी इस बात का अनुभव न कर सके थे कि मनुष्य प्रतिभा के द्वारा भी सृजन हो सकता है।

यह बात अवश्य खटकती है कि कजिन्स ने अपने पूर्ववर्ती एडीसन और

लेसिंग का कोई उल्लेख नहीं किया यद्यपि उनके सिद्धान्त में उनकी छाया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसका कारण यही हो सकता है कि वह सौन्दर्य को तत्वज्ञान ही का एक अंग समझता था। एडीसन ने भी तो साहित्य को तत्वज्ञान और विज्ञान से अलग करके साहित्य समालोचना का बीजारोपण किया था। लेसिंग को भी शायद उसने इसलिए भुला दिया है कि उसने आलोचना के कलात्मक रूप को प्रगट किया था। जान पड़ता है कि कजिन्स ने यह स्वीकार नहीं करना चाहा कि उसके पहिले भी साहित्य-समालोचना को बौद्धिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान मिल चुका था। तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कजिन्स ने सौन्दर्य और कला के सिद्धान्त का नियमित और सांगोपांग विवेचन किया है तथा अपने दृष्टिकोण और मर्यादा के अन्दर अपनी कल्पना को क्रियात्मक रूप देने में उसने प्रशंसनीय सफलता भी पाई है। उसने अपने छोटे-से ग्रन्थ में चार महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया है जिनसे कि समालोचना का मूल्य निर्धारित होता है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं—

- (१) (Subjective beauty) आत्मगत सौन्दर्य का क्या स्वरूप है और किन शक्तियों के ऊपर सौन्दर्य का विचार निर्भर है ?
- (२) वस्तु सौन्दर्य (Objective beauty) का क्या रूप है— अर्थात् मत किसी व्यक्ति क्रिया या विचार को सौन्दर्यमय बनाने वाली कौन-सी वस्तु है ?
- (३) कला क्या है, तथा सौन्दर्य का सृजन किस प्रकार होता है ?
- (४) भिन्न-भिन्न ललित-कलाओं में किस प्रकार भेद किया जा सकता है ? उनके साधन तथा उनके उद्देश्यों में क्या विशेषता या भिन्नता है ?

(१) आत्मगत सौन्दर्य —

प्रारम्भ में कजिन्स अपने आध्यात्मिक तत्वज्ञान के प्रयोग से इस बात का भेद बतलाता है कि सौन्दर्य के विचार में और इन्द्रियों द्वारा होने वाली सौन्दर्यानुभूति में कितना अन्तर है। जब सौन्दर्य की भावना इन्द्रियों के द्वारा

हमारे पास आती है तब वह उनके लिए मुख बनकर ही जाती है क्योंकि इन्द्रियों हमें यह नहीं बता सकती कि कौन वस्तु सुन्दर है। वह केवल यह बता सकती हैं कि कौन वस्तु उन्हें सुखकर है। सौन्दर्य की भावना इससे बहुत परे है। पहिले तो अनुभव यह बतलाता है कि सौन्दर्य और रुचिकरत्व (Agreeableness) एक वस्तु नहीं है क्योंकि सभी रुचिकर वस्तुएँ सौन्दर्ययुक्त नहीं होती। दूसरे पञ्चेन्द्रियों में से केवल दो ही—श्रवण और दर्शन-सौन्दर्य की भावना उत्पन्न कर सकती हैं। कभी-कभी तो संवेदन सौन्दर्य-भावना को उत्पन्न करने के बदले उसे दवा देता है। रुचिकर और सौन्दर्य में मुख्य भेद यही है कि सौन्दर्य तर्क से जाना जाता है न कि संवेदना से। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य केवल सर्वस्वीकृत औचित्य के निर्णय से ही पहिचाना जाता है। यह निर्णय देना इन्द्रियों की शक्ति के बाहर है, क्योंकि इन्द्रियों की ज्ञान तुलनात्मक होती है न कि सर्वाङ्गीण। ऊपरी दृष्टि से देखने वाला यदि कहे कि अपेलो की मूर्ति उसे रुचिकर नहीं मालूम होती तो हम उसे ममत्त सकते हैं। किन्तु यदि वह यह कहे कि वह मूर्ति सुन्दर नहीं है तो यह उसकी भूल होगी। सुरुचि और कुरुचि में काफी अन्तर होते हुए भी हम इन्द्रियों के संवेदन को सौन्दर्य का निर्णायक नहीं मान सकते।

तब कहना होगा कि तर्क बुद्धि से जिसे औचित्य प्राप्त हो वही सौन्दर्य है। यही सौन्दर्य की आदर्श कल्पना है। प्लेटो जिसे सौन्दर्य का रूप या सौन्दर्य की उच्च कल्पना कहता है उसी को बाद के कलाविदों ने आदर्श मान लिया है। सौन्दर्य की तुलना करते समय जब हम उसकी श्रेणियाँ बनाते हैं तब इसी आदर्श का मानदण्ड सामने रखते हैं। सौन्दर्य की यह उच्च कल्पना, अथवा आदर्श, इन्द्रियों की संवेदनाओं के द्वारा किसी प्रकार आकलन नहीं की जा सकती। क्योंकि वे परिवर्तनशील और तुलनात्मक ज्ञान ही हमें दे सकती हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-दर्शन के लिए सर्वप्रथम शक्ति तर्क-बुद्धि ही है।

सौन्दर्य के आकलन के लिए दूसरी आवश्यक शक्ति है भावना या अनुभूति। किन्तु तर्कविहीन भावना से उसका ग्रहण नहीं हो सकता केवल भावना को प्रधान और तर्क को गौण मानने से सौन्दर्य-प्रेम और सुन्दर वस्तु

की इच्छा (जो कि बिल्कुल अलग-अलग वस्तुएँ हैं) एक ही हो जायगी। इनमें अंतर यही है कि इच्छा किसी वस्तु को प्राप्त कर उस पर अधिकार करना चाहती है जबकि सौन्दर्य की भावना अपने आप ही में सन्तुष्ट हो जाती है। भावना तर्क के समान कोई सिद्धान्त नहीं है किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य है जो कि सौन्दर्य-दर्शन में बहुत सहायक होता है। यह सौन्दर्य की भावना दो प्रकार से प्रगट होती है—(१) किसी वस्तु में सौन्दर्य के दर्शन से और (२) उसमें महानता देखने से। यह अनन्तता के दर्शन पर आधारित है।

तर्क और भावना के बाद सौन्दर्य दर्शन के लिए तीसरी आवश्यक शक्ति है कल्पना। तर्क, भावना और कल्पना, तीनों ही एक दूसरे को उत्तेजित करती हैं। एक और तो कल्पना तर्क और भावना को उत्तेजित करती है और दूसरी और वह स्वयं भावना और तर्क के द्वारा उत्तेजित होती है। कल्पना का केवल यह काम नहीं है कि वह वस्तुओं से प्रभावित हो, उनकी कल्पित मूर्तियाँ उपस्थित कर उन मूर्तियों में परिवर्तन करे अथवा उनमें से दूसरी मूर्तियाँ उत्पन्न करे। भावना से प्रेरणा ग्रहण करना और सफल होना भी उसका काम है। इसी कारण कजिस्स का मत है कि कल्पना के क्षेत्र को सीमित नहीं करना चाहिए; कल्पना को पार्थिव वस्तुओं के विचारों और उसकी मूर्तियों से बद्ध करना चाहिए। वस्तुओं के अतिरिक्त शब्दों और ध्वनियों में भी कल्पना का विस्तार हो सकता है। इसी कारण वह कवि के समान संगीतज्ञ को भी कल्पना का अधिकारी मानता है। यदि कवि प्रकृति की मूर्तियों की कल्पना करता है तो वह कभी-कभी भावनाओं और विचारों को भी जागृत करता है। इनके साथ ही वह न्याय, स्वातन्त्र्य और सद्गुणों के महान् विचार भी हमारे सामने रखता है। इन उदात्त नैतिक भावनाओं और आत्मा के अंतरतम के चित्रों में भी कल्पना का निवास है।

इनके अतिरिक्त सुरुचि भी एक गुण है जो कि सौन्दर्य-दर्शन में सहायक होता है। इसे एक अलग शक्ति न मानकर तर्क, भावना और कल्पना का सुन्दर समिश्रण मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। काव्य को हृदयंगम करने के लिए हम में स्वयं कल्पना होना आवश्यक है। इसलिए कल्पना सुरुचि की एक

आवश्यक घटक है। किन्तु सौन्दर्य का एक ऐसा पहलू भी है जिससे कल्पना उतनी अनभिज्ञ नहीं है, और वह है प्रकाशन का सौन्दर्य। काव्य-रचना की एकता, उसके भावों का संतुलन, उसके अंग-प्रत्यंग का अनुपात तथा उसके छन्दों का चुनाव आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें कि कल्पना निकट से स्पर्श नहीं कर सकती। उक्त उपकरणों का ठीक-ठीक महत्व समझने के लिए वह आवश्यक है कि कल्पना सुरुचि के द्वारा नियमित हो। तभी सौन्दर्य का आकलन अच्छी तरह से हो सकता है।

इस प्रकार कजिन्स के मतानुसार तर्क, भावना, कल्पना और सुरुचि इन चार शक्तियों के द्वारा हम सौन्दर्य का दर्शन और ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं गुणों के कारण हम बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य की तुलना कर सकते हैं। बाह्य संसार और आन्तरिक परिपूर्णता दोनों में साम्य का अनुभव करना ही आत्मगत सौन्दर्य है।

(२) वस्तुगत सौन्दर्य—

दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कजिन्स अपने विषय के चार विभाग करता है— (१) वस्तुओं का सौन्दर्य, (२) सौन्दर्य की आत्मा, (३) सौन्दर्य के प्रकार, और (४) सौन्दर्य के आदिम और अन्तिम सिद्धान्त।

पहले उसने बताया है कि रमणीय और सुन्दर में क्या अन्तर है। इसके बाद वह सुन्दर और उपयोगी तथा सुन्दर और अनुकूल इनमें भेद बतलाता है। सौन्दर्य न अनुपात में है तथा न स्वच्छता और संतुलन में। ये सब एकता के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। असल में सौन्दर्य दो परस्पर विरोधी किन्तु उतने ही आवश्यक तत्वों में है और वे हैं—एकता और भिन्नता। एकता और भिन्नता इन दोनों की सम्मिलित अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य की आत्मा है।

एक फूल का उदाहरण लीजिए। उसमें एकता, क्रम, अनुपात और संतुलन सब कुछ वर्तमान है। इन गुणों के बिना सौन्दर्य-दर्शन टिक ही नहीं सकता। एकता का रहना आवश्यक है, किन्तु एकता के होते हुए भी विभिन्नता भी आवश्यक है। फूल में भिन्न-भिन्न रंग और रूप देखने को मिलते हैं।

गणित में भी सौन्दर्य कोई एक अज्ञात सिद्धान्त नहीं है । बिना जीवन के सौन्दर्य टिक नहीं सकता । गति ही का नाम तो जीवन है ।

ये दो तत्व जो कि सौन्दर्य की आत्मा हैं सौन्दर्य के सभी प्रकारों में मिलते हैं । शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक सभी प्रकार के सौन्दर्य में पाये जाते हैं । इन तीनों प्रकारों को जो बात एकता के सूत्र में बाँधती है वह यह है कि वे तीनों एक ही सौन्दर्य में ढाले जा सकते हैं और वह है नैतिक सौन्दर्य । इसमें आध्यात्मिक सौन्दर्य भी सम्मिलित है । अतः हम कह सकते हैं कि नैतिक सौन्दर्य का मूल आधार है । जब आन्तरिक सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य का चेहरा प्रकाशित होता है तब वह और उसका सारा शरीर आध्यात्मिक सौन्दर्य के कारण दिव्य हो जाता है । यही कारण है कि विश्राम करते हुए मनुष्य की आकृति भी पशु की अपेक्षा अधिक सुन्दर झलक पड़ती है । प्रतिमा या गुणों के प्रगटीकरण के बिना भी उससे बुद्धि और नैतिकता का प्रतिबिम्ब झलक पड़ता है । पशु आकृति में एक निर्जीव वस्तु की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य होता है । पशु में भी भावना का प्रतिबिम्ब तथा आन्तरिक सौन्दर्य की छाया रहती है ।

यदि हम किसी जड़ वस्तु को देखें तो उसमें सौन्दर्य का कोई चिन्ह मिलना कठिन है । असल में सब वस्तुओं में एक आन्तरिक ज्योति प्रकाशित हो रही है । जड़ प्रकृति में भी ऐसी शक्तियाँ वर्तमान हैं जो कि जड़ नहीं हैं । उनके द्वारा जड़ प्रकृति भी अनुप्राणित और ओतप्रोत है । इससे हमें सब में वर्तमान एक महान् तत्व का प्रमाण मिलता है । इसी कारण प्रकृति का सुख भी मनुष्य-सुख के समान भाव-व्यंजक है । कजिन्स के शब्दों में आकार केवल आकार ही नहीं रह सकता । आखिर वह किसी वस्तु विशेष का आकार होगा । शारीरिक सौन्दर्य भी आन्तरिक सौन्दर्य का बाह्य चिन्ह है । आध्यात्मिक और नैतिक सौन्दर्य ही सौन्दर्य का आधार या मूल तत्व है ।

सौन्दर्य के ये सब प्रकार यथार्थ सौन्दर्य में सम्मिलित हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त कजिन्स एक और सौन्दर्य को मानता है और वह है आदर्श सौन्दर्य । उसके विषय में वह कहता है—“आदर्श न तो किसी विशेष वस्तु में है और न विशेष वस्तुओं के समूह में । प्रकृति या अनुभव द्वारा हम उसकी कल्पना

करने का अवसर पाते हैं। किन्तु वह 'आदर्श' उन सबसे निराला ही होता है। जो मनुष्य उसकी एक बार भी कल्पना कर लेता है उसके लिए सम्पूर्ण स्वाभाविक आकृतियाँ, चाहे वे कितनी सुन्दर क्यों न हों, उस उच्चतम सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब मात्र जान पड़ती हैं जो कि अनुभव से भी परे हैं। यदि आप मेरे सामने कोई महान् कृति रखें तो मैं उससे भी अधिक महाकृति की कल्पना कर सकता हूँ। हम आदर्श के जितने भी पास जाते हैं वह उतना ही दूर भागता जाता है।" उसका अन्तिम स्थान अनन्त या ईश्वर ही है। दूसरे शब्दों में सच्चा और सर्वोच्च आदर्श ईश्वर के सिवा दूसरा नहीं है।

इस प्रकार सौन्दर्य का सबसे आदर्श प्रकटीकरण ईश्वर ही है। वही सौन्दर्य का चरम विधान है। शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक तीनों प्रकार के सौन्दर्यों का वही मूल है। सौन्दर्य और महानता, जो कि उक्त तीनों प्रकार के सौन्दर्यों में अलग-अलग दिख पड़ते हैं, उसमें मिलकर एकाकार हो जाती हैं। वह परम तत्व जो कि चरम एकता और अनन्त विभिन्नता, दो परस्पर विरोधी गुणों का एक ही साथ विधान है वही ईश्वर सौन्दर्य का अन्तिम कारण, मूल आधार और चरम आदर्श है। उसी अनन्त सौन्दर्य के दर्शन से हम जीवन की चिर सार्थकता होती है। जिसने उस चरम सौन्दर्य की पवित्रता और सरलता का चिन्तन किसी शारीरिक आधार या मानवीय रंगों से कर लिया, नश्वर आभूषणों से विरहित उस महान् सौन्दर्य के दर्शन पा लिये, उसका जीवन सचमुच धन्य हो गया है।

(३) कला क्या है ?

कला क्या है तथा सौन्दर्य का सृजन किस प्रकार होता है ? इस तीसरे प्रश्न के उत्तर में काजन्स कलाकृति में सम्मिलित होने वाले मुख्य तत्वों का भेद बतलाता है। सबसे पहिले वह कला के सृजन के लिए कल्पना को प्रधान मानते हुए कहता है—“हम अपने सांसारिक जीवन में जिस शारीरिक या नैतिक सौन्दर्य से प्रसन्न होते हैं उसी को फिर से देखना और अनुभव करना चाहते हैं। इसलिए हम उसे कला-कृतियों के रूप में फिर से सृजन करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य का स्वतंत्र रूप से सृजन ही कला है और जिस शक्ति से यह

सृजन होता है वही प्रतिभा है। असल में प्रतिभा, सृजन-शक्ति और सुरुचि का ही समिश्रण है। सुरुचि भी कल्पना, भावना और तर्क के मेल से उत्पन्न होती है। प्रतिभा न तो ईश्वर के समान सृजन ही करती है और न उसका केवल अनुकरण ही करती है। वह अपनी सामग्री तो प्रकृति से लेती है किन्तु उसका सृजन अपने ढंग से करती है। इस भेद का कारण यही है कि कलाकार यथार्थ का सीधा सृजन नहीं करता वरन् उस यथार्थ के भाव का सृजन करता है। यह भाव वही होता है जिसको वह प्रकृति से चुनकर स्वयं सृजन करता है और जिसकी प्रतिमूर्ति प्राकृतिक वस्तुओं में नहीं मिलती। इस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य की सहायता से नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना ही कला का अन्तिम उद्देश्य है।”

कला और प्रतिभा के इस वर्णन में कजिन्स ने अरस्तू और प्लेटो के कला और नीति की आन्तरिक एकता के सिद्धान्त ही को दुहराया-सा है। किन्तु आगे चलकर जब वह कलाकार के चित्त में उदय होने वाली आदर्श प्रणाली की चर्चा करता है तब एक नया सिद्धान्त हमारे सामने रखता है।

इस विषय में उसका कथन है कि असली कलाकार में प्रकृति के गुण-दर्शन की महान् भावना होती है किन्तु प्रकृति में प्रत्येक वस्तु तो प्रशंसनीय होती नहीं। एडीसन ने जिस कल्पना को उत्तेजित करना कहा है उसे कजिन्स प्रकृति की आलोचना अथवा आदर्शिकरण की प्रणाली (Criticism of Nature and idealizing process) कहता है। यह इस तरह से समझाई जा सकती है कि यदि हम किसी आकृति को देखें तो जान पड़ेगा कि उसमें कोई ऐसा दोष अवश्य है जिससे हमारी इन्द्रियों के लिए उसका सौन्दर्य कम हो जाता है। किन्तु हमारे मन के लिए यह दोष वाचक सिद्ध नहीं होता। उस कलाकृति को याद करते समय उस दोष को भुला देते हैं। यहाँ हमारा मन केवल चुनाव ही नहीं करता वरन् उस आकृति या क्रिया के दोषों की पूर्ति भी कर लेता है। इस प्रकार दोषों को दूर कर और भूलों की पूर्ति करके हमारा मन किसी आकृति या क्रिया का मानसिक चित्र बनता अथवा कोई निश्चित विचार रखता है। अब कला हमारे सामने उस विशेष आकृति या क्रिया को न

रखकर उसके विचार को हमारे सामने उपस्थित करती है। दूसरे शब्दों में, कला असली वस्तु की केवल प्रतिकृति नहीं बल्कि उस वस्तु के मानसिक रूप की प्रतिकृति है। भिन्न-भिन्न कलाओं में इस मानसिक पहलू को अलग-अलग महत्व दिया गया है। यह मानसिक भावना कविता में सबसे अधिक और स्थापत्य कला में सब से कम है।

कहा जा चुका है कि कला का लक्ष्य शारीरिक सौन्दर्य की सहायता करके मानसिक सौन्दर्य को प्रगट करना है। कला के लिए शारीरिक सौन्दर्य मानसिक सौन्दर्य का प्रतीक मात्र है। प्रकृति में यह प्रतीक छिपा हुआ रहता है किन्तु कला इसे स्पष्ट कर देती है और इसी कारण इसका प्रभाव प्रकृति की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ता है। प्रकृति में एक ऐसी शक्ति है जो कि नेत्रों और कल्पना के लिए बहुत बड़ा आकर्षण उत्पन्न करती है। वह शक्ति है जीवन। कला हम को इसलिए अधिक प्रभावित करती है कि नैतिक सौन्दर्य प्रकाशित करना ही उसका प्रधान उद्देश्य है और इसी कारण वह हमारी भावनाओं की जड़ में सीधे जाकर हमें प्रभावित करती है। परिणाम यह होता है कि कला हम में प्रकृति से भी अधिक करुणा की भावना उत्पन्न कर सकती है और इसमें संदेह नहीं कि करुणा ही उच्चतम सौन्दर्य का चिह्न और मापदण्ड है। कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह यथार्थ और आदर्श इन दोनों तत्वों का समन्वय करे। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दोनों 'अतियों' से बचे। वे अतियाँ (Extremes) हैं—(१) आदर्शवादिता और (२) आदर्शहीनता। इन दोनों से बचकर यथार्थ और आदर्श का संतुलन कायम रखना ही प्रतिभा है। कजिन्स के सब शब्दों में आदर्श और यथार्थ का संतुलन, आचार और विचार—दोनों के सम्मिलन का ठीक अनुपात रखने की द्रुत और अचूक दृष्टि ही प्रतिभा है। यह सम्मिलन और कला की पूर्णता है। इसी से महान् कलाकृतियों की उत्पत्ति होती है।

आदर्श और यथार्थ के उचित सम्बन्ध को स्थायी रखने के लिए यह आवश्यक है कि एक तरफ भय और दूसरी ओर अनुमान को कला के क्षेत्र से अलग रखा जाय। यदि कला केवल भ्रम को उत्पन्न करे तो हमें

पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं कर सकती। साथ ही यदि कला आत्मा को इतना ऊपर उठाती है कि वह केवल परोक्ष रूप से ही ऐसा करती है। कजिन्स के शब्दों में—“कलाकार केवल शुद्ध कलाकार ही है। सौन्दर्य की भावना ही उसे प्रेरणा देती है। वह दर्शकों के मन से भी वही भावना उत्पन्न करना चाहता है जो स्वयं उसके मन में प्रेरित होती है। सौन्दर्य (Beauty) में उसका दृढ़ विश्वास है। उसके आदर्श में जितना आकर्षण है उस सबके द्वारा वह सौन्दर्य की शक्ति को सुरक्षित रखता है। ज्योंही कलाकार चुनी हुई आत्माओं से हृदय में सौन्दर्य की महान् भावना उत्पन्न कर चुकता है उसका कार्य समाप्त हो जाता है। यह शुद्ध और निःस्वार्थ भावना ही नीति और धर्म की सच्ची मगिनी है। नीति और धर्म की भावनाओं को उत्तेजित, पोषित और विकसित करते हुए भी सौन्दर्य-भावना बिल्कुल अलग और स्वतंत्र भावना है।”

कला की स्वतंत्रता पर जोर देते हुए भी कजिन्स उन्हें नीति और धर्म अथवा देश-भक्ति से अलग नहीं करना चाहता। वह मानता है कि कला उन महान् भावनाओं तथा प्रकृति से ही प्रेरित होती है। उसकी समझ में आदर्श सौन्दर्य, अनन्त प्रकृति और ईश्वर ही का प्रतिविम्ब है—

“कला स्वयं ही नीति और धर्मप्रधान है। अपने नियम का उल्लंघन न करते हुए वह अनन्त सौन्दर्य ही का प्रकाशन करती है, वह जड़ प्रकृति के बंधनों से चारों ओर बंधी है। जड़ पत्थर अस्पष्ट स्वर तथा मर्यादित और निश्चित शब्दों की शृंगला में बंधे होने पर भी वह अपने मन पर अपने मन के अनुकूल आकृतियों की छाप लगा देती है। वह उन पर ऐसा रहस्यमय प्रभाव छोड़ जाती है जो कि कल्पना और आत्मा पर भी असर डालता है। वह उन्हें यथार्थता के संसार से दूर हटाकर अप्रकट रूप से अज्ञात देशों में उड़ा ले जाती है। प्रत्येक कलाकृति चाहे वह किसी भी रूप अथवा आकार की क्यों न हो, आकांत संगीत या कविता के रूप में प्रकट होकर (यदि वह सूक्ष्म सुन्दर एवं महान् हो) आत्मा को शुद्ध स्वप्न-लोक में ले जाकर अनन्तता तक पहुँचा देती है। यही अनन्तता वह चरम लक्ष्य है जहाँ तक कि

आत्मा कल्पना अथवा तर्क के पंखों द्वारा उड़कर पहुँचना चाहती है। उसी एक गन्तव्य स्थान तक महान् और सुन्दर अथवा सत्य और शिव के मार्गों द्वारा पहुँचाया जा सकता है। सौन्दर्य जिन सुन्दर भावनाओं का सृजन करता है, वे ही आत्मा को प्रभावित करती हैं। मनुष्यता के चरणों पर कला इसी उपकारी भावना को अर्पण करती है।

(४) ललित-कलाओं में भेद—

जब हम कला की दूसरी प्रणाली को देखेंगे तो एडीसन के अनुसार वह कल्पना की दूसरी क्रिया ही है (Second operation of imagination) जो एक दूसरे की कल्पना को प्रभावित करती है। कजिन्स इसके विश्लेषणों में चौथे प्रश्न का उत्तर पा जाता है। वह प्रश्न था—ललित-कलाओं को विभाजित करने वाली कौनसी बातें हैं? मूल तत्त्व में तो सभी कलाओं का उद्देश्य एक ही है—वे सभी विचार अदृश्य अनन्त आत्मा का प्रकाशन करते हैं। किन्तु एक ही वस्तु के प्रकाशन में वे कलाएँ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को प्रभावित या उत्तेजित करती हैं। इसी कारण एक ही कला अनेक में विभक्त हो जाती है। प्राकृतिक वस्तुएँ हमारे समीप आती हैं और इसी सिलसिले में कुछ गुण भी अपने साथ लाती हैं। पाँच इन्द्रियों में से केवल दर्शन और श्रवण ही कलाकार को सौन्दर्य सृजन में सहायक होती हैं। इसलिए ये इन्द्रियाँ जिन गुणों को प्रगट करती हैं उन्हीं तक कला सीमित हो जाती है।

इसी कारण ललित-कलाएँ दो मोटे-मोटे भागों में विभाजित की जाती हैं—(१) श्रवणप्रधान कलाएँ, जैसे संगीत और कविता तथा (२) दर्शनप्रधान कलाएँ, जैसे—चित्र, मूर्ति और भवन-निर्माण-कला। इनके द्वारा दृढ़ता, आकार, रंग, शब्द, काल और अवकाश—ये गुण प्रगट होते हैं। इन गुणों में से मूर्तिकला केवल दृढ़ता और आकार को प्रगट करती है। वह रंग शब्द या काल को प्रकट नहीं कर सकती। विश्राम की अवस्था में शारीरिक सौन्दर्य का प्रकटीकरण ही मूर्ति-कला का विशेष क्षेत्र है। चित्रकार के पास रंग तथा अवकाश के साधन होते हैं किन्तु दृढ़ता आदि साधन नहीं रहते। चित्रकार केवल गति को सूचित कर सकता है, काल को नहीं। मूर्तिकार के समान चित्रकार भी

दर्शनेन्द्रिय को ही अपील करता है। उसमें विशेषता यही होती है कि उसकी अपील का क्षेत्र मूर्तिकार की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हो जाता है। संगीतज्ञ के पास केवल शब्द और काल के साधन होते हैं। इन्हीं दो के बल पर वह भावना के क्षेत्र में आधिपत्य जमाता है।

जब हम कवि के विषय में विचार करते हैं तो जान पड़ता है कि उसके पास न तो मूर्तिकार के समान दृढ़ता और आकार प्रदर्शित करने के साधन हैं और न चित्रकार के समान रंग और अवकाश ही के। वह केवल भाषा और काल इन दोनों गुणों की सहायता ही से वास्तविकता का चित्र हमारे सामने रखता है तथा प्रत्यक्ष जीवन के लयाचित्रों का सृजन करता है। इतना होने पर भी भाषा का साधन इतना शक्तिशाली और व्यापक है कि उसका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव-जीवन और विचारों तक विस्तृत हो जाता है और यही वास्तविकता का केन्द्र-स्थल है।

विशेष गुणों को अपना साधन बनाने के साथ ही साथ अपने दोषों को छिपाने के लिए यह आवश्यक हो जाता कि ये कलाएँ कुछ विशिष्ट साधनों का उद्भोग करें। इसी के कारण भिन्न-भिन्न कलाकार अपने साधक गुणों से सम्बन्ध रखने वाली अपने विवेक की विशेषताओं पर अधिक जोर देते हैं। और दूसरे गुणों से सम्बन्ध रखने वाले साधन (जो कि उसके वश में नहीं हैं) उन्हें दबाना चाहते हैं। फल यह होता है कि हमारा मन उस कलाकार ही की विशेषता में इतना तन्मय हो जाता है कि वह उसके दोषों की ओर दृष्टिपात भी नहीं कर पाता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी विचार को उपस्थित करने के समय भिन्न-भिन्न कलाकारों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस विचार के एक पहलू को कम महत्व देकर उसे अपने मुख्य उद्देश्य की अपेक्षा गौण स्थान पर रखें। यह कार्य वे अपनी विशेष कलाओं के उपयुक्त गुणों की सहायता से करते हैं।

आलोचना की दृष्टि से कल्पना की प्रेरणा ही रचना की मूल है साधारण कला के क्षेत्र में आदर्शिकरण को जो स्थान है वही विशेष कला के क्षेत्र में रचना को है अपनी कला के उपयुक्त विशेष तरीके से विचार को उपस्थित करना है

जिसके द्वारा वह कला हमारी इन्द्रियों को सरलता से कल्पना तक पहुँचाती है, वही प्रणाली 'रचना' है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि प्रकाशन की एकता ही सच्ची एकता है। इस प्रकार की रचना तथा कृत्रिम नियमों से बँधी हुई वाक्य रचना में बहुत बड़ा अन्तर है। विचारों की अभिव्यक्ति की एक जोरदार प्रणाली ही एक सच्ची रचना है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता ललित कलाओं की विशेषता है। इस कसौटी पर कसने से भवन-निर्माण-कला सबसे निम्न कोटि की ठहरती है, क्योंकि उसका कलाकार उपयोगिता के बन्धन में चारों ओर से बँधा रहता है। उसमें उपयोगिता के विचार ही सर्वप्रधान रहते हैं। प्रकाशन की स्वतन्त्रता भी प्रत्येक कला में उपयोग किये गये साधनों के अनुसार ही सीमित रहती है। राक (Rock) का उदाहरण देते हुए कजिन्स कहता है—

“यदि हम किसी संगीतज्ञ से तूफान का अनुकरण करने को कहें तो वह हवा की सरसराहट और बिजली की कड़कड़ाहट का चाहे थोड़ा-बहुत अनुसरण कर भी सके किन्तु बिजली की चमक और समुद्र की लहरों के ज्वार-भाटे को वह किस प्रकार प्रकट कर सकेगा? संगीत श्रोता (बिना पहले से बताये) यह भेद ही न कर सकेंगे कि वे युद्ध का वर्णन सुन रहे हैं अथवा तूफान का। सारे विज्ञान और प्रतिमा की सहायता से भी ध्वनियों के द्वारा कलाकार प्रगट नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार संगीत का उपयोग यदि हम समुद्र की लहरों के ज्वार-भाटे को व्यक्त करने में करें तो वह असफल होगा, संगीत यह काम अवश्य कर सकता है कि वह हमारे हृदय में अपने स्वरों के द्वारा वे ही भावनाएँ उत्पन्न करे जो कि तूफान के समय उत्पन्न होती हैं।”

संगीत तथा चित्र-कला में हृदय को स्पर्श करने और हिलाने की अधिक शक्ति है।

कविता का स्थान इन सब कलाओं के ऊपर है। वह वाह्य इन्द्रियों पर बहुत कम निर्भर है। इसी कारण उसमें भाव-प्रकाशन की शक्ति सबसे अधिक है। शब्दों की सहायता से वह कल्पना के द्वारा सीधे हमारी आत्मा को प्रभावित करती है। इसकी चर्चा करतेहुए कजिन्स ने कहा है—

वाक्-शक्ति कविता का वाहन है। कविता शब्दों को इस प्रकार ढालती है कि जिसमें वह आदर्श सौन्दर्य का समुचित प्रकाशन कर सके। वह भाषा को छन्दों की मधुरता और महत्ता में बाँधती है। वह भाषा को ऐसा रूप प्रदान करती है जो न केवल शब्द रह जाता है और न संगीत वरन् जिसमें दोनों ही की सम्मिलित विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कविता में पार्थिव और आत्मिक दोनों ही भावनाएँ दीख पड़ती हैं। वह सुन्दर आकृति के समान पूर्ण स्पष्ट और सूक्ष्म रंगों की तरह जीवित और जागृत तथा ध्वनि की तरह करुण और अनन्त होती है।

कविता का शब्द शब्द-मात्र रहता है। किन्तु जब वही कविता के हाथों द्वारा संस्कृत किया जाता है तब वह शक्तिशाली हो उठता है और सान मे चढ़े हुए हीरे के समान चमकने लगता है।

अष्टम अध्याय

कविता की प्रकाशन-शक्ति

अनुकरण, प्रतिबिम्ब और प्रकाशन इन तीनों शब्दों में हमें कविता का इतिहास मिल जाता है । भिन्न-भिन्न विचारकों ने कविता को किन-किन दृष्टियों से देखा यह इनसे प्रगट होता है । पहले लोगों ने यह कहा कि कविता जीवन का अनुकरण है । उसके बाद यह माना गया कि वह जीवन का प्रतिबिम्ब है और अन्त में यह प्रतिपादित किया गया कि वह जीवन का प्रकाशन या उसकी आलोचना है ।

सभी प्रकार की कविताओं में ये रूप कम या ज्यादा मात्रा में पाये जाते हैं और इसी मात्रा के कारण हमें मालूम होता है कि वह कविता किस कोटि की है । वर्तमान काल में यही सिद्धान्त प्रधान है कि कविता की महान शक्ति उसकी अर्थ-प्रकाशन योग्यता ही है । एडीसन ने यह बतलाया था कि ललित कलाओं की मुख्य शक्ति कल्पना के उत्तेजन करने में है और कविता में वह सबसे अधिक है । यह शक्ति कवि और श्रोताओं या पाठकों दोनों के मन में एक साथ काम करती है । इसी के कारण उनके मनो में सहकारिता उत्पन्न हो जाती है । इसी सहकारिता के कारण हम में 'सत्यता की भावना' उत्पन्न होती है जिसकी ग्रनौल्ड ने चर्चा की है ।

अब हमें यह देखना है कि कविता की यह प्रकाशन-शक्ति किन-किन उपायों से प्रगट होती है । उसके तीन प्रकार मुख्य हैं :—

१—जब कवि क्रिया का प्रकाशन करता है ।

२—जब वह प्रकृति का वर्णन करता है । न. वि

३—जब वह व्यक्ति या समाज की मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कराता है ।

जिस क्षेत्र में कविता क्रियाओं का प्रकाशन सकलतापूर्वक करती है वह है नाटक या कथा-साहित्य। ये दोनों ही कला में कविता के दो भिन्न-भिन्न अंग माने जाने लगे हैं। इसका कारण स्पष्ट है। जब से कविता विचारप्रधान हो गयी तब से कविता में क्रिया का प्रकाशन गौण समझा जाने लगा। साथ ही क्रियाप्रधान कविता का आकार-प्रकार भी बढ़ने लगा। इसके लिए नाट्य-कला कविता से अलग होकर एक स्वतन्त्र कला ही माना जाने लगा है। विज्ञान के द्वारा रंगभूमि को उन्नत करने के नये-नये उपायों के काम में लाये जाने से वह एक स्वतन्त्र कला ही बन गई है।

इसी प्रकार कथा भी एक अलग कला बन गई है। उसमें मन्य की कृति प्रकट करने के लिए जो विशेषताएँ हैं वे कविता में नहीं हैं। भाषा के प्रयोग में छन्द आदि का बन्धन न होने के कारण कथाकार बन्धनमुक्त हो गया है। इसी प्रकार कथा के वाह्य रूप में भी वह बिल्कुल स्वतन्त्र है। इस कारण मनुष्य की बहुत सी कृतियाँ और उसके विचार, जो कि कविता के लिए अनुपयुक्त हैं, कथा-साहित्य में बिना कला के नियमों को भंग किये अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं। इसके अलावा उनका दर्शन अधिक पूर्णता से किया जा सकता है और वे प्रभावोत्पादक भी हो जाते हैं।

नाटक और कथा-साहित्य का वर्णन अलग-अलग अध्यायों में किया जायगा। यहाँ हमें केवल उन बातों की चर्चा करना है जो कि सभी प्रकार की कविता—काव्य, नाटक और कथा—में एक समान हैं। इस कविता में वर्णन और विचार, छन्द और प्रबन्ध तथा काव्य और संगीत सभी शामिल हैं। यद्यपि उसका उपयोग रंगभूमि के लिए नहीं होता, तो भी क्रिया ही उसके अनुकरण का मुख्य साधन है और जीवन के इसी क्षेत्र में वह अपनी प्रकाशन-शक्ति को प्रगट करती है। इस प्रकार की कविता में नाटक और उपन्यास के समान जीवन की क्रिया ही प्रधान रहती है। इस कारण उसमें कथावस्तु सबसे प्रधान उपकरण बन जाती है। कलाकार के लिए अपनी मानसिक आकृति की रचना जो महत्व रखती है वही महत्व कवि के लिए कथावस्तु का है। उसी के लिए कवि अपने विचारों की सीमा को निर्धारित करता है और उसी के

रेखाचित्र वह अपने विचारों से चित्रित करता है।

नाटककार और वर्णनात्मक कवि दोनों ही के लिए पात्रों और घटनाओं का चुनाव, पात्रों के कार्यक्षेत्र का निर्धारण तथा एक घटना की दूसरी घटनाओं और पात्रों के साथ सद्बता—यही मुख्य कार्य है। इन कार्यों में वह कला के सिद्धान्तों से प्रेरित होता है जिसके कारण उसकी अनुकरण-प्रणाली और विषय दोनों ही सीमित हो जाते हैं। कवि संसार को प्रत्येक वस्तु क्रिया तथा पात्र का वर्णन नहीं कर सकता। उसे केवल ऐसे ही विषय, पात्र तथा क्रियाएँ चुननी पड़ती हैं जिनके प्रगटीकरण से नैतिकता और कला का प्रकाशन हो। उसकी प्रणाली भी चित्र या मूर्तिकला के समान आदर्श होनी चाहिए। फिर, उसे अपने चुने हुए उपकरणों को एक विशेष रूप देना पड़ता है। इसके बाद उन सबको किसी कथानक या कार्ययोजना में एकत्र करके अपने विचारों का प्रकाशन करना उसके लिए आवश्यक होता है। साथ ही, प्रत्येक कार्य और पात्र के विषय में भी उसे सावधानी रखनी पड़ती है। उसे देखना पड़ता है कि उसके पात्र आदर्श हों और उसकी घटनाएँ सम्भवनीय हों। वह अलग-अलग व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार अभिव्यक्त करता है तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की उनकी श्रेणियों और उनके उद्देश्यों के अनुसार अभिव्यंजना करता है। इस प्रकार कवि अपने विषय और प्रणाली दोनों ही में मर्यादित होता है।

कवि अपने कथानक के कारण मानव-जीवन की घटनाओं का विस्तृत और शक्तिशाली रूप से प्रकाशन करता है। मानव-हृदय की मूल भावनाओं और उनकी क्रियाओं को प्रगट करना, प्रेम और घृणा, सचाई और दम्भ, तथा संयम और स्वच्छन्दता आदि विरोधी भावनाओं का संघर्ष बतलाना उसका मुख्य कार्य होता है। मनुष्य अपनी बाह्य परिस्थितियों पर कितना निर्भर है, उसकी धन-सम्पत्ति, शक्ति-सामर्थ्य और मान-मर्यादा में कितनी अनिश्चितता है। मनुष्य एक दूसरे के ~~साथ~~ इतना सम्बद्ध होते हुए भी वह अज्ञानक मृत्यु के कारण किस प्रकार विच्छिन्न कर दिया जाता है आदि-आदि मानव-व्यापारों का चित्रण करना उसका कार्य है। इन सब बातों को विरोध और संघर्ष

के द्वारा प्रभावोत्पादक बनाने ही में उसकी कला है। इसके साथ ही मानव जीवन के असली अर्थ को प्रगट करने के लिए उसे यह बताना आवश्यक होता है कि अपनी परिस्थितियों और सम्बन्धों के ऊपर भी मनुष्यों की स्वतन्त्र स्थिति है। इसके लिए उसे अपने पात्रों और घटनाओं को इस प्रकार सम्बद्ध करना होता है जिसमें कि पार्थिव और नैतिक नियमों के भीतर उन सबको संचालित करने वाली एक नियामक शक्ति की सत्ता प्रगट हो। उसे आकस्मिक घटनाओं तथा पूर्व निश्चित विचारों में समन्वय स्थापित करना पड़ता है। उसे मनुष्य के अन्तरतम में निहित न्याय-भावना को भी सन्तुष्ट करना पड़ता है जो कि उस सर्वोच्च शक्ति के विश्वास पर आधारित है। संक्षेप में, उसके लिए जीवन की घटनाओं और जीवन के सत्य में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है।

मानव-जीवन की एक समस्या है—पाप का अस्तित्व। कवि को यह बतलाना आवश्यक होता है कि आकस्मिक विपत्तियों के पड़ने पर भी ईश्वरीय नियम किस प्रकार अनुगुण रहता है। इसके लिए उसे कर्म के सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ता है। जिसके अनुसार पाप का फल अनिवार्य हो जाता है। इसके विरुद्ध यदि किसी पुण्यात्मा पर विपत्ति पड़ती है तो ईश्वर की इच्छा, आत्मा की अमरता तथा आगामी दण्डविधान का प्रतिपादन किया जाता है। मिल्टन ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने महाकाव्य 'पैराडाइज़ लास्ट' में मनुष्य के पतन और पाप के अस्तित्व का अर्थ बतलाया है। जार्ज इलियट ने मनुष्यों के वर्तमान कार्यों को परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार समझाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार मानव-जीवन को आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार समझाये बिना उनका कार्य नहीं चल सकता था।

मानव-जीवन का एक दूसरा महत्वपूर्ण सत्य है—“स्त्री पुरुष का परस्पर आकर्षण”, जिसे लेकर बहुत से काव्यों और कथा-साहित्य की सृष्टि हुई है। इस शक्ति का कवियों के हाथ में दुरुपयोग भी काफी हुआ है जिससे मानव सम्बन्धों में व्याघात ही नहीं परम् महान् विपत्तियों की सृष्टि भी हुई है।

इन भावनाओं के अतिरिक्त कवियों ने बहुत सी अन्य भावनाओं के

प्रकाशन में भी काव्य लिखे हैं, जैसे मानव-ज्ञान की अत्यन्त तथा राजाओं के कर्तव्य आदि ।

अरस्तू ने कवियों के स्वभावों को दो भागों में विभाजित किया है । इस पर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है । उसका कथन है कि काव्य एक ऐसी कला है जिसके लिए दो प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता होती है—या तो मनुष्य प्रतिभाशाली हो अथवा उत्साही । प्रतिभाशाली व्यक्ति संवेदनाओं को बहुत जल्द ग्रहण करता है किन्तु उत्साही बहुत जल्द उनके कारण वहक जाता है । कवि को समझाना चाहिए कि वह क्या चित्रित कर रहा है । इसके लिए प्रत्यक्ष अनुभव की बड़ी आवश्यकता होती है । किन्तु यह बहुत कम कवियों में पाया जाता है । हमें ऐसे कवियों का ही बाहुल्य मिलता है जा कि बिना व्यक्तिगत अनुभव के ही बहुत सी बातें समझ लिया करते हैं । इन्हीं के अनुसार हम कवियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहले संवेदनशील और दूसरे आत्म-त्यागी ।

वर्तमान कवियों में उक्त प्रकार के भेद करना कठिन है क्योंकि आधुनिक काल की विपत्तियों के कारण अधिकांश कवियों के स्वभाव में वे दोनों ही गुण आ जाते हैं । किन्तु यदि हम संवेदनशील कवियों और जीवन को गम्भीर दृष्टि से देखने वालों (विचारशील कवियों) को एक ही समझ लें तो उनके साथ न्याय न होगा । वर्तमान शताब्दी में दूसरे प्रकार की कविता ही अधिक उत्पन्न हुई है । उन कवियों की दृष्टि से वस्तुओं का आन्तरिक दर्शन ही अमली दर्शन है, न कि उनके बाहरी रूप का दर्शन जो कि साधारण दृष्टि से देखा जाता है ।

कविता के इस पहलू का विकास वर्तमान कविता के प्रकृति-वर्णन में अधिक मिलता है । उसमें केवल प्राकृतिक दृश्यों और क्रियाओं को का विस्तृत वर्णन नहीं रहता बल्कि प्रकृति को और भी गहरी दृष्टि से देखा जाता है । कवि पहले कौतूहल प्रगट करता है और फिर प्रकृति की अभिव्यंजना । यूरोप में ईसाई धर्म के उदय के साथ कविता में प्रकृति के प्रति यह नवान दृष्टि तथा मानव व्यापारों के प्रति विस्तृत चित्र खल गया । धार्मिकता के प्रचार से बाहरी

इन्द्रियजन्य विषयों को छोड़कर आन्तरिक आत्मीयता के प्रति, नश्वर के बदले अविनश्यर तथा दृश्य के बदले अदृश्य के प्रति, केवल विद्वानों का ही नहीं वरन् साधारण जन-समाज का भी ध्यान आकर्षित हुआ। आधुनिक कविता की विशेषता है—विचारों का विस्तार जो कि प्राचीन कविता में नहीं पाया जाता। युग की विश्लेषणप्रधान मनोवृत्ति ही के कारण कवियों ने प्रकृति के विश्लेषण में भी प्रश्न का चिह्न लगाना शुरू कर दिया। वैज्ञानिक खोजों और उनके प्रयोगों से तथा ज्ञान के विस्तार के कारण भी इस प्रवृत्ति में अधिक उत्तेजना मिली।

जहाँ प्रकृति का वर्णन केवल मनुष्य जीवन को अधिक स्पष्ट करने के लिए किया गया है वहाँ पर इस प्रकार का 'कौतूहल' प्रकृति के प्रति प्रगट नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए नीचे लिखा पद्य लीजिये—

“आजि वर्षार रूप हेरि मानवेर माफे,
चलेधे गरजि चलेंछे निविड़ साजे,
हृदये ताहार नाचिया उठेंछे भीमा,
घाइले घाइले लोप करे चले सीमा,
कोन ताड़नाय मेघर सहित मेघे,
वच्चे वच्चे मिलिया वज्र वाजे।”

जहाँ कवि प्रकृति के सान्निध्य से उत्पन्न होने वाली भावना या मनो-वृत्ति को चित्रण करता है अथवा जहाँ इस भावना को किसी अन्य विचार या क्रिया के साथ समानता बतलाता है वहाँ भी इस पद्धति का प्रयोग नहीं किया जाता। यथा—

“घन घमंड नभ गरजतो घरा। प्रियहीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमक रही घन माँही। खल की प्रीति यथा थिर नाँही ॥”
—तुलसी

केवल वर्णनात्मक पद्यों में भी यह बात नहीं पायी जाती—

“मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो तथा त्वाम्।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ॥

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नून मावद्ध माला : ।

सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥” —मेघदूत

अन्य पद्यों में प्रकृति की अभिव्यंजना पाई जाती है । उनमें कवि प्रकृति के केवल बाहरी रूप का ही वर्णन नहीं करता वरन् प्रकृति दर्शन से मनुष्य के हृदय में जो भावनायें उत्पन्न होती हैं उनका चित्रण भी करता है । शाल्मीकि का वर्षा-वर्णन देखिये । उनमें नदी प्रवाह के मिस से ही प्रिय मिलन समुत्सुका कान्ता का ही वर्णन है—

“निद्रा शनैः केशवमश्रुपैति द्रुतं नदीसागरमश्रुपैति ।

हृष्टा बलाका घनमश्रुपैति कान्ता सकामा प्रियमश्रुपैति ॥”

कवि प्रकृति में दिव्य विभूति के दर्शन कराना चाहता है । जो सौन्दर्य प्रकृति में दिग्वता है वह उसी दिव्य विभूति का प्रकाशन है—इसी ओर कवि निर्देश करता है । कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को देवतात्मा कहकर इसी प्रकार प्रकृति की अभिव्यंजना की है—

“अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।

पूर्वापरौ वारिनिधौ विगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥”

—कुमारसम्भव १-१

इस वर्णन में हम पार्थिव संसार से उतरकर आत्मिक जगत् में पहुँच जाते हैं । वर्ड्सवर्थ ने भी यही दृष्टि लेकर प्रकृति का वर्णन किया है । वह समुद्र की मर्मर ध्वनि में दिव्य संगीत सुनते ही मचल उठते हैं—

“Even such a shell the Universe itself

Is to the year of faith and there are times

I doubt not when to you it doth impart

Authentic tidings of invisible things,

Of ebb and flow and ever during power;

And central peace subsisting at the heart

Of endless agitation.”

—The Excursion

कहा जा चुका है कि आधुनिक कवि प्रकृति-वर्णन में विवेचनात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हैं। वे पहले जटिलता भरते हैं और फिर प्रकाशन करते हैं; पहले संदेह और फिर अभिव्यक्ति करते हैं।

प्राचीन और नवीन कवियों का भेद श्री अरविन्द और अन्य कवियों की कविताओं से स्पष्ट हो जायगा—

“A slow swan silvering the azure lake
A shape of magic whiteness sailed through
dream;
Leaves trembling with the passion of the wind
And wandering wings nearing from infinity
Lived on the tablets of my inner sight;
Mountains & trees stood there like thoughts
from God.”
—Savitri

“उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को झुके बादल,
अमी रंगत सुहानी चढ़ रही है सबके साथे पर,
उड़े बगले, चले सारस, हरस छाया किसानों में,
बरस भर की नयी उम्मीद छायी है बरसने के तरानों में ॥”

—भवानी मिश्र

इस निरीश्वरवादी युग में ईश्वर की भी काफी खबर ली गई है। पहले की मान्यता भी कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, किन्तु यह भावना ही ईश्वर-विरोध का निमित्त बन गई—

“We are all workman prentice, journeyman
Or master—building you—you towering nave.”
—Rizk

“God is a proposition
And we who prove him
Are his priests his chosen.” —Cesil Deludes

“What will you do God when I die
When I your pitcher broken lie ?
When I your drink go stale or dry ?
I am your garo, the trade you ply,
You lose your meaning losing me.”

प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ आधुनिक कवि वर्तमान काल के मातशील बौद्धिक जीवन का साथ देता है। साथ ही वह प्रकृति के अंतर्निहित मानसिक तत्व पर प्रकाश डालकर भी इसी युग का अनुसरण करता है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ देश-विदेशों की नयी-नयी खोजों का भी कवि पर असर पड़ा है। विचारों की नयी दुनिया और नवीन संवेदनाओं का भी वह कविता में उपयोग करता है। वर्तमान युग के बढ़ते हुए ज्ञान (जिसमें मनुष्य और प्रकृति, निर्जिव और सजीव, सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान सम्मिलित है) के नैतिक और आत्मिक पहलू का प्रकाशन करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। उसे यह बतलाना पड़ता है कि आधुनिक काल के नये-नये सिद्धान्तों को जैसे शक्ति-संचय (Conservation of Energy) बलवान का प्राधान्य (Survival of the fittest) प्राचीन आध्यात्मिक सिद्धान्त ही की अधिक स्पष्टता और प्रबलता के साथ सिद्ध करते हैं। मनुष्यों का आपस में तथा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है इसका दिग्दर्शन भी उसे नवीन ढंग से करना है। मानस-शास्त्र की खोजों के द्वारा मानव-विचारों का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है इसका भी वह दुर्लक्ष नहीं कर सकता। वर्तमान अनुसंधानों से दृश्य और अदृश्य जगत् में सम्पर्क स्थापित करने की आकांक्षा कितनी प्रबल हो गई है इसका भी वह प्रकाशन करता है।

आधुनिक युग में ब्राउनिंग ही एक ऐसा कवि हुआ है जिसने इस काल में आध्यात्मिक कठिनाइयों को पूर्णता और निष्पक्षता के साथ प्रकट किया है। हम उसमें व्यक्तित्व और युग दोनों की शक्तियों को एकत्रित पाते हैं। उसे हम आधुनिक पाश्चात्य साहित्य का समन्वयवादी कवि कह सकते हैं। उसने विज्ञान के सत्तों और धार्मिक विश्वासों में एकात्मता स्थापित करने का प्रयत्न

किया है। इन विश्वासों के बिना उसने भौतिक उन्नति को व्यर्थ माना है। साथ ही साथ वह सत्य को स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहता था। दोनों के समन्वय के लिए उसने दो सिद्धान्तों पर अपना आधार रक्खा था— विचारों की सापेक्षता और मानव-जीवन की क्षणभंगुरता। पहले सिद्धान्त के अनुसार उसने नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने को असम्मत बतलाया है तथा दूसरे सिद्धान्त के द्वारा उसने सर्वशक्तिमान् और महान् बुद्धिशाली सत्ता का शासन प्रतिपादित किया है। उसने मानव-बुद्धि के मर्यादित होने ही के कारण ईश्वरीय न्याय तथा धार्मिक विश्वास की महत्ता स्वीकार की है। उसने संशयालु युग की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए विश्वास को संशय से अधिक प्रबल बतलाया है—

“The sum of all is. Yes my doubt is great.
My faith is still greater; Then my faiths' enough.”

अब हमें यह देखना है कि कविता व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से मन की स्थितियों का किस प्रकार प्रकाशन करती है। जीवन की इसी प्रकार की अभिव्यक्ति में हमें ‘आत्मत्यागी’ कवियों का लक्षण मिलता है जिसकी चर्चा अरस्तू ने की है। कवि की विशेष शक्ति को इमरसन ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

“प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि उसकी बुद्धि के परे भी एक शक्ति का अस्तित्व है। व्यक्तिगत शक्ति के परे भी एक महान् शक्ति है ऐसा जानते ही वह विश्व के जीवन से एकरस हो जाता है। उसकी वाणी में विद्युत् की शक्ति आ जाती है। उसके विचार नियमों का रूप धारण कर लेते हैं और उसके शब्द लोकप्रिय हो जाते हैं। कवि जब यह समझने लगता है कि वह अपनी बुद्धि से नहीं वरन् हृदय से बोल रहा है, जब वह अपनी बुद्धि को केवल एक इन्द्रिय न समझकर एक शक्ति समझने लगता है और उसमें दिव्य जीवन् की प्रेरणा अनुभव करता है तभी उसे अनुभव होता है कि वह ठीक-ठीक बोल रहा है।”

ऐसा मानते हैं कि मनुष्य के धार्मिक संघर्ष को सबसे अधिक स्पष्ट

प्रकट करता है। इस युग की उदासीनता तथा संघर्ष को स्वाभाविक बतलाते हुए उसने उसका कारण भी बतलाया है और यह आशा प्रगट की है कि अन्त में सन्देह और विश्वास में समन्वय स्थापित हो जायगा। वर्तमान शताब्दी की विपत्ति को उसने बड़ी अन्तर्दृष्टि से देखा है—

“This strange disease of modern life
With its sick hurry, its devided aims
Its heads over taxed, its palsied hearts.”

ऊपर कहा जा चुका है कि कविता अधिकाधिक विचारप्रधान होने लगी है और नाटक तथा कथा-साहित्य के अलग हो जाने से वह क्रियाओं और पात्रों की अपेक्षा प्रकृति और मानस शास्त्र के द्वारा अपनी अभिव्यंजना शक्ति को प्रगट करने लगी है। स्वतन्त्रता की भावना का विकास करने वालों में स्विनबर्न का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। प्रजातन्त्र, स्वतन्त्र विचार, वैज्ञानिक नैतिकता आदि विषयों को उसने बड़ी मनमोहकता और शक्ति के साथ अपने गीतों में प्रगट किया है। उसकी प्रतिभा और विषयों के चुनाव के कारण उसकी कविता इस बात का प्रमाण है। वर्तमान युग के सूक्ष्मातिस्क्षुप्त विचार भी कवित्व के द्वारा किस सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किये जा सकते हैं।

विश्वधर्म के प्रतिपादन के रूप में उसने मनुष्यता के लिए जिन कर्तव्यों का निर्देश किया है उसमें उपयोगितावाद की गंध तक नहीं है। उसमें इस लोक या दूसरे लोकों की प्राप्ति का कोई लोभ नहीं है। उसमें केवल अपने कर्तव्य-पालन का आत्मसन्तोष मात्र है। जीवन की महत्ता बतलाते हुए उसने कहा है—

“Nay, we shall rather live,
We shall not die ;
Life bearing so little
And death so good to give.”

पूर्व में रवीन्द्र और अरविन्द विश्वास और बौद्धिक तत्व के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। रवीन्द्र वर्तमान युग में भी सन्तों की श्रद्धा और भक्ति को पुनर्जीवित करते हैं और वे भक्ति-विभोर होकर गाते हैं—

“आभार माथा नत करे दाओ हे तोमार चरण धूलाय तले ।

सकल अहंकार हे आमार डुबाओ चोखेर जले ॥”

और श्री अरविन्द अपनी लोकोत्तर कल्पना के साथ लोकोत्तर ज्ञान की उच्चातिउच्च भूमिका पर हमको ले जाते हैं। इतना होने पर भी वे श्रद्धा और बुद्धि, स्वर्ग और मर्त्य, मानवीय प्रेम और ईश्वरीय ज्ञान का अद्भुत समन्वय उपस्थित करते हैं—

“So, we have worked upon the force of God

Our life has opened with divinity

We have borned identity with the supreme.

And known his meaning in our mortal lives ?

Our love has grown greater by that mighty touch.

And learnt its heavenly significance.

Yet nothing is lost of mortal loves delight.

Heavens touch fulfills but cancels not our earth.”

अपने महाकाव्य के अन्त में उन्होंने जीवन का रहस्य बतलाते हुए कहा है कि प्रेम और एकता का अनुभव ही जीवन है—

“Awakened to the meaning of my heart.

That to feel love and oneness is to live.”

—Savitri : Epilogue

नवम अध्याय

कविता जीवन की आलोचना है ✓

मैथ्यू अर्नोल्ड केवल साहित्य का समालोचक ही नहीं वरन् मानव-जीवन का भी आलोचक है। किसी विशेष समय के साहित्य को उस समय के जीवन से एकरस मानकर वह साहित्य और जीवन की आलोचना एक ही प्रणाली से करता है। वह केवल आलोचक और सुधारक ही नहीं वरन् आलोचकों का भी आलोचक तथा सुधारकों का भी सुधारक है। अपने साथियों से कई बातों में उसका मतभेद था और उस मतभेद को वह और भी बढ़ाकर बतलाता था। उसके ग्रन्थों के शीर्षकों ही से उसका यह विद्रोह प्रगट होता है।

मैथ्यू सारे जीवन को आदर्श की कसौटी पर कसता है; उसकी पूर्णता के बिना उसे सन्तोष नहीं होता। जहाँ उस आदर्श की प्राप्ति असम्भव या कठिन भी होती है, वहाँ भी वह उस आदर्श को सदा सामने रखने का आग्रह करता है, क्योंकि अपनी अपूर्णताओं के ज्ञान से ही तो आगे की उन्नति सम्भव है। उसका कथन है कि संसार की वस्तुएँ जैसी हैं उनको दैसे ही देखे बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए उसने कुछ उपाय भी बतलाये हैं। अपनी पुस्तक (*Culture and Anarchy*) में उसने बतलाया है कि संस्कृति ही वर्तमान कठिनाइयों से पार कर सकती है। ज्ञान की सहायता से अपने पूर्ण आदर्श की ओर बढ़ने का प्रयत्न ही यह संस्कृति है। इसकी प्राप्ति के लिए संसार में जो अच्छे से अच्छे विचार और कथन हैं उन सबके विषय में ज्ञान सम्पादन करना ही एकमात्र उपाय है। इस ज्ञान के द्वारा अपनी धारणाओं और आदतों पर नवीन और स्वतन्त्र विचारों का प्रवाह डालना इसका साधन है।

मैथ्यू जिसे संस्कृति कहता है उसे अच्छी तरह व्यक्त करने के लिए आलोचना शब्द अधिक उपयुक्त होगा। अपने उपाय को उसने 'ज्ञानना

और अनुसरण करना' इन दो शब्दों से व्यक्त किया है । इनके लिए एक विशेष उन्नति और क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है जो कि 'संस्कृति' में नहीं पाई जाती । संस्कृति इस प्रकार की मानसिक स्थिति है जो कि ज्ञान से उत्पन्न होती है । किन्तु अर्नोल्ड उस मानसिक स्थिति को पसन्द करता है जो कि सत्य और अमत्य को अलग-अलग कर सके । यह कार्य समालोचना ही से हो सकता है । कभी-कभी वह ज्ञान की 'प्रणाली' और उसके 'फल' को एक ही मान लेता है और इसीलिए संस्कृति और आलोचना को भी एक ही समझ लेता है । आलोचना के कार्य के सम्बन्ध में उसने लिखा है—

“आलोचना का कार्य केवल इतना ही है कि संसार के अच्छे से अच्छे विचारों को जानना और उनके द्वारा सच्चे और नये विचारों को प्रवाहित करना । आलोचना की विशेषता है—निःस्वार्थ भावना और उसका कार्य है—अपने काम को ईमानदारी और योग्यता के साथ करना तथा उसके फलों और उसके उपायों की बिल्कुल चिन्ता न करना ।”

संस्कृति और आलोचना दोनों के एकीकरण से हमें अर्नोल्ड के विचारों का पता लग जाता है । अब हमें उसके साहित्य-समालोचना सम्बन्धी विचारों को देखना है । उसने ग्रीक साहित्य को अपना प्रारम्भ-बिन्दु बनाया है । एडोसन से उसका यही भेद है कि उसने सिद्धान्त की अपेक्षा साहित्य को पहले लिया है । ग्रीक साहित्य के बाद उसने अंग्रेजी साहित्य का कई दृष्टियों से अध्ययन किया और अन्त में उसने स्थानीय या ऐतिहासिक दृष्टि से अपने को बिल्कुल अलग करके एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण बनाया और यही आलोचक का सबसे बड़ा गुण है ।

प्राचीन ग्रीक और वर्तमान कविता की तुलना करते हुए उसने एक जगह लिखा है—“उनकी और हमारी कविता सम्बन्धी सिद्धान्तों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उनके लिए किसी क्रिया का कवित्वमय रूप सर्वप्रधान था किन्तु हमारे लिए उस क्रिया के साथ होने वाले अलग-अलग विचार ही महत्वपूर्ण हैं; यदि वे सम्पूर्ण को देखते हैं तो हम अंगों को देखते हैं ।”

वर्तमान कविता में जो रचना की शिथिलता पाई जाती है उसका कारण वह विज्ञान को बतलाता है। क्योंकि विज्ञान से विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति पैदा होती है जबकि कलाकार के लिए संश्लेषणात्मक मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। मैथ्यू के शब्दों में—“साहित्यिक प्रतिभा का कार्य संश्लेषण और प्रकाशन से होता है न कि विश्लेषण और अनुसंधान से। साहित्यिक प्रतिभा के लिए बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण की प्रेरणा आवश्यक है। उन विचारों को दिव्य रूप में देखकर उन्हें प्रभावोत्पादक और आकर्षक ढंग से वर्णन करना कलाकार के लिए परमावश्यक होता है।”

इसलिए उसकी राय में वर्तमान काल साहित्यिक कृतियों की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। कहा जाता है कि यह युग औद्योगिक उन्नति और सामाजिक उत्थान का है। कवि कहते हैं कि उनकी कला के लिए उन्हें ऐसी महान् कृतियों की आवश्यकता है जिनसे मनुष्य की आत्मा के स्थायी भावों पर आनन्ददायक और शक्तिशाली प्रभाव पड़ सके। यदि वर्तमान युग इस प्रकार की कृतियों को उत्पन्न कर सकता है तो उन पर वाध्य भी लिखे जा सकते हैं किन्तु इस नैतिक महानता के अभाव में और आत्मिक असन्तोष के युग में ऐसी कृतियों का मिलना बहुत कठिन है।

इसके बाद मैथ्यू विस्तार से प्राचीन ग्रीक और वर्तमान कविता की तुलना करते हुए कहता है—“प्राचीन काल की कविता इन्द्रियों और बुद्धि पर निर्भर थी; मध्य काल में हृदय और कल्पना प्रधान हो गई; किन्तु वर्तमान काल में इन दोनों के बदले कल्पनात्मक तर्क ही प्रधान है।”

प्राचीन और नवीन कवियों की तुलना करते हुए उसके मत में “ग्रीक कवि सोफोकलीज में धार्मिक भावना की अपेक्षा बुद्धि की मात्रा अधिक थी और दान्ते में विचार-शक्ति की अपेक्षा धार्मिकता प्रबल थी। किन्तु वर्तमान युग के लिए न तो सोफोकलीज या उसके साथी ही उपयुक्त हैं और न दान्ते या शेक्सपियर। वर्तमान युग को तो अपनी कविता स्वयं निर्माण करनी है।”

भिन्न-भिन्न कवियों के काव्य के गुणों का वर्णन करते हुए उसका कथन है कि उच्च गम्भीरता (High seriousness) ही काव्य का प्रधान

गुण है और वह दान्ते, शेक्सपियर, मिल्टन, होमर तथा सोफोकलीज़ सभी में समान रूप से पाया जाता है।

वर्तमान युग के लिए मैथ्यू अर्नोल्ड की राय में काव्य और साहित्य को सृजनात्मक न होकर आलोचनात्मक होना चाहिए। आलोचना में भी उसके लिए काव्य में जो सबसे सुन्दर और उत्तम है वही आलोचना का मुख्य लक्षण है। सभी प्रधान धर्मियों में यही 'जीवन की आलोचना' मूल आधार है। साहित्य का अन्तिम लक्ष्य इसके सिवाय और कुछ नहीं।

जिस समय अर्नोल्ड अपने युग की जड़वादिता को निन्दा कर रहा था उसी समय उसके आस-पास टेनीसन, ब्राउनिंग, रोजेटी, स्विनबर्न आदि कवियों का उदय हो रहा था। इसलिए उनके गुणों को वह दुर्लक्ष्य न कर सका। तो भी उसकी यही मान्यता थी कि एकीलीज़ और शेक्सपियर के युग ही साहित्यिक जीवन के लिए उपयुक्त थे और वे ही हमें आदर्श की ओर बुलाते हैं। यद्यपि हम वहाँ तक न पहुँचकर बीच ही में रह जायेंगे, किन्तु उसकी कामना करना और उसे दूर ही से प्रणाम कर लेना हमारे लिए यथेष्ट है।”

वर्तमान युग की कविता की असफलता का मुख्य कारण अर्नोल्ड के मत से देश में विचारों का अभाव ही है—“वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक तीस वर्षों की अंग्रेजी कविता में उस प्रकार की युग-भावना का अभाव है जो कि हमें गेटे और हीन (Heine) की कविता में मिलती है। इसका कारण यह है कि उन कवियों में न तो जर्मन कवियों के समान विचारों की सम्पत्ति थी और न फ्रेंच कवियों के समान उत्साह ही था।” उसके मत में बायरन और शैली भी वर्तमान युग के भावों का प्रयोग करने में सफल नहीं हुए। यह भावना तभी उत्पन्न होती है जब कवि अपने जीवन को युग के जीवन से एकरस कर दे। ईसाई साधु का जीवन बिताने वाले बर्ड्सवर्थ, अफीम खाने वाले कोलरिज, राजा-रईसों का जीवन चरित्र लिखने वाले स्काट और क्षय रोग से अकाल मृत्यु प्राप्त करने वाले कीट्स से क्या आशा की जा सकती थी? वह कहता है—“इन सभी ने बायरन और शैली की अपेक्षा कहीं अच्छे काव्य ग्रंथ रचे हैं। किन्तु उनमें दोष यही है कि वे वर्तमान साहित्य और युग की विचारधाराओं

से दूर हैं। वे युग के विचारों का जीवन में उपयोग नहीं करते। इसी कारण वे युग की प्रधान धारा में नहीं गिने जा सकते।”

उक्त उदाहरणों से हमें अर्नोल्ड के तत्कालीन साहित्य सम्बन्धी विचारों का पता लगता है। इसके आधार पर अब हम उसके समालोचना सम्बन्धी सिद्धान्त और उसके प्रयोगों की चर्चा करेंगे।

हम देख चुके हैं कि अरस्तू ने जिस सन्तुलन के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था उसको एडीसन ने अपूर्ण पाकर कल्पना की प्रेरणा का नया सिद्धान्त स्थापित किया। अरस्तू की कसौटी कविता की बाह्य परीक्षा ही के लिए थी। उसने विचार की अपेक्षा कविता के बाह्य रूप को ही प्रधान माना था। एडीसन की कसौटी आध्यात्मिक थी और उसमें कविता के बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक विचार को महत्व दिया गया था।

अब हमें देखना है कि अर्नोल्ड किन बातों में इससे आगे बढ़ा। पहले तो एडीसन ने जिस सिद्धान्त का केवल आविष्कार ही किया था अर्नोल्ड ने उमी सिद्धान्त का साहित्य के अध्ययन में प्रत्यक्ष प्रयोग करके बतला दिया। विचार की महानता पर जोर देते हुए अर्नोल्ड ने लिखा है—“कविता की महान् शक्ति उसकी अभिव्यक्ति या अर्थ प्रगट करने की शक्ति में है। वह बाह्य संसार की गति और रूपरेखा को अपनी अद्भुत शक्ति से प्रकाशित कर उसका अर्थ स्पष्ट कर देती है। इसके साथ ही वह मनुष्य के नैतिक और आत्मिक आन्तरिक विश्व के विचारों और नियमों को दृढ़ विश्वास के साथ प्रगट करके उसका स्पष्टीकरण करती है।

दूसरी बात जो मैथ्यू अर्नोल्ड ने की वह थी आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्त को निश्चित रूप देना। उसने यह बताया कि कविता ही कल्पना का विशेष क्षेत्र है और सर्वोच्च कविता वही है जो अपने क्षेत्र में कल्पना को उत्तेजित कर सके। साथ ही उसने कहा कि हमें कविता के सम्बन्ध में पहले की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और उच्च दृष्टि से देखना चाहिए। कविता का उपयोग भी कहीं अधिक ऊँची वस्तुओं के लिए और ऊँचे लक्ष्य के लिए किया जाना चाहिए। उसका कहना था कि मनुष्य जाति इस तत्व तक अधिकाधिक-

पहुँचेगी कि कविता हमारे जीवन की आलोचना करने और उसे सान्त्वना देने और पोषित करने में समर्थ है। इसी दृष्टि से हमें कविता की ओर देखना चाहिए।

इस दृष्टि से कल्पना को उत्तेजित करने की प्रतिभा कविता की कसौटी नहीं रह जाती वरन् उसकी नैतिकता ही प्रधान बन जाती है। मैथ्यू के मतानुसार काव्य की सफलता के लिए केवल सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग करना ही काफी नहीं है वरन् वह प्रयाग काव्यगत सत्य और सौन्दर्य के नियमानुसार होना चाहिए। यह बात बिना उच्च गम्भीरता के सम्भव नहीं है और यह गम्भीरता भी बिना एकान्त निष्कपटता के नहीं आ सकती।

हम देखते हैं कि इन सिद्धान्तों में विचार और उसका बाहरी रूप—सत्य और सौन्दर्य—एक दूसरे से उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार कि वे प्लेटो के प्रजातन्त्र में हैं। मैथ्यू के इन नये सिद्धान्तों को हम संक्षेप में इस प्रकार मान सकते हैं—

१—लेखक के व्यक्तित्व और उसके समय के वातावरण इन दोनों बातों का प्रतिबिम्ब साहित्य में पाया जाता है।

२—कवित्व गद्य या पद्य दोनों में प्रगट हो सकता है। मर्यादा इतनी ही है कि कविता का वाहन उसके आन्तरिक विचार के अनुरूप होना चाहिए।

३—कविता जीवन की आलोचना है। कविता का विषय केवल मानवीय क्रियाओं तक ही सीमित नहै किन्तु उसके क्षेत्र में विचार और उसकी प्रक्रिया भी सम्मिलित है। विचार केवल भावना नहीं है वरन् उनमें सारी जाति का अनुभव और आकाङ्क्षाएँ निहित हैं।

४—कविता कला का एक अंग है और इसलिए प्रकाशन की शक्ति उसका मुख्य लक्षण है। कविता का सत्य भावना का सत्य है न कि विज्ञान के समान प्रतीकों का सत्य। कविता की मुख्य कसौटी 'निष्कपटता की उच्च गम्भीरता' है और इसके लिए कवि में नैतिकता की सबसे पहले आवश्यकता है।

इस प्रकार अर्नोल्ड ने कलाकार और उसके युग में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। साहित्य के महान् युग के निर्माण के लिए कवि के व्यक्तित्व और उसके युग की शक्ति दोनों ही को सम्बन्धित होना चाहिए। इन दोनों में से कोई भी एक शक्ति अकेली सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। प्रतिभा के लिए उपयुक्त वातावरण होना चाहिए, क्योंकि यह निश्चित विचारों के संसार ही में कार्य कर सकती है। यही कारण है कि साहित्य के सृजनात्मक युग बहुत कम मिलते हैं और इसी कारण बहुत से मेधावी कवियों की रचनायें भी असफल रहती हैं। सारांश, साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए व्यक्तित्व और युग की शक्ति इन दोनों का एकत्रित होना परमावश्यक है।

इंग्लैंड में शेक्सपियर के समय और ग्रीस में सोफोक्लीज़ के समय में ऐसा ही अनुकूल वातावरण मौजूद था जिनसे कवि की सृजन-शक्ति पोषित होती थी। यदि युग की शक्ति के साथ कवि का व्यक्तित्व नहीं मिलता तो हमें हीन (Heine) सरीखे अरुण कवि मिलते हैं। उसके समय में जर्मनी में नवीन विचारों का स्रोत बहने के कारण उपयुक्त वातावरण था, किन्तु हीन में व्यक्तित्व का अभाव था। इस कारण वह सफल न हो सका। दूसरी ओर व्यक्तित्व की शक्ति होते हुए भी यदि उपयुक्त वातावरण का अभाव हो तो हमें वायरन और ग्रे सरीखे कवि मिलते हैं। वायरन में निष्कपटता और कवित्व-शक्ति दोनों होते हुए भी जीवन का अनुभव नहीं था। शेक्सपियर के बाद वह सबसे बड़ा कवि माना जाता है किन्तु उसकी शक्ति युग की शक्ति से टकराकर चूर-चूर हो गई थी। इसी प्रकार ग्रे का ज्ञान उसकी भावना और विनोद गद्य के युग में पड़कर अरुण रहे। उचित मानसिक वातावरण न पाकर उसकी प्रतिभा अभिशप्त हो गई। याद ग्रे मिल्टन या बर्ग्स का समासात्मिक होता तो उसकी प्रतिभा एलिज़बेथ का युग अथवा फ्रांसीसी राज्यक्रांति का अनुकूल वातावरण पाकर चमक उठती।

व्यक्ति और युग इस प्रकार सम्बन्धित होने के कारण आलोचक के लिए यह खोज करना आवश्यक हो जाता है कि वे एक दूसरे को कहाँ तक प्रभावित करते हैं। कवि उस नदी के समान है जो कि अपने बहने के स्थल के अनुरूप

ही स्वच्छ, धूमिल या मलिन होती जाती है । आलोचना करने के पहले आलोचक को कवि के युग के जीवन और विचारों का ज्ञान होना आवश्यक है । अर्नोल्ड के शब्दों में—“किसी युग के साहित्य की मुख्य धारा को पहचान कर उसे गौण धाराओं से अलग करना ही आलोचक का मुख्य कार्य है ।” जर्मन कवि हीन के काव्य में हमें उस समय के यूरोपियन विचारों की प्रबल धारा मिलती है किन्तु वर्ड्सवर्थ और बायरन के काव्यों में हमें उस युग की गौण विचारधाराएँ ही मिलती हैं । इसी कारण वे दोनों कवि ‘हीन’ की अपेक्षा हीन समझे जाते हैं ।

इसके साथ ही मैथ्यू गद्य को भी कविता का वाहन समझकर अनेक गद्य-लेखकों की चर्चा करता है । वह बात अरस्तू और बेकन ने भी सिद्धान्त रूप से तो स्वीकार की थी किन्तु मैथ्यू ने जितने जोर से इसे कविता का मुख्य गुण माना है उतना उन्होंने नहीं माना था । इसका कारण यही हो सकता है कि अठारहवीं सदी में ही आकर अंग्रेजी गद्य साहित्य को प्रौढ़ता प्राप्त हुई थी । मैथ्यू की समझ में गद्य के मुख्य गुण हैं—नियमितता, सतुलन और समानता । इसके समर्थन में अंग्रेजी साहित्य के अनेक उदाहरण देने के बाद उसने स्वीकार किया है कि गद्य में इंगलिस्तान बहुत पीछे है । कविता के क्षेत्र में ही वह आगे बढ़ा हुआ है । इसका एक कारण यह है कि अंग्रेजी कवियों में नैतिकता की धारा बहती है और दूसरे उनकी कविता का वाहन वह भिन्न तुकान्त छन्द हैं जो कि उनके गद्य के समान पूरी स्वतन्त्रता देता है । आगे चलकर वाल्टेयर का समर्थन करते हुए वह कहता है कि नैतिक विचारों की प्रबलता ही अंग्रेजी साहित्य की विशेषता है । कविता के क्षेत्र में ही अंग्रेजी कवियों ने अपनी प्रतिभा का विशेष प्रदर्शन किया है ।

अंग्रेजी, फ्रांसीसी और यूनानी कवियों की तुलना करते हुए वह कहता है कि जहाँ तक छन्दों का सम्बन्ध है फ्रांसीसी कवियों की अपेक्षा अंग्रेजी कवि अधिक सफल हुए हैं । गद्य के क्षेत्र में पासकल तथा वाल्टेयर आदि फ्रांसीसी लेखकों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए पद्य के क्षेत्र में उनके छन्दों को यूनानी

या अंग्रेजी कवियों की अपेक्षा हीन बतलाता है । इसका कारण यही है कि गद्य लेखकों को छन्द आदि का बन्धन नहीं रहता जब कि पद्य लेखकों को पहले से ही निश्चित किये हुए छन्दों के बन्धन में ही चलना पड़ता है ।

गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में वह शेक्सपियर को सबसे अधिक सफल कवि मानता है । वह काव्य शैली का शासक और विचार-शली का नियन्ता है । उसमें हमें ज्वलन्त गद्य के साथ सुन्दर पद्य का ऐसा मौन्दर्य मिलता है जैसा कि प्राचीन ग्रीक साहित्य के बाद सुनने को नहीं मिला ।

जब अर्नोल्ड कविता को जीवन की आलोचना कहता है तो उसमें आधुनिक काल की कविता की परिभाषा अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है । दूसरे लेखकों ने भी बहुत स्पष्टता के साथ तथा सुन्दर शब्दों में इसी विचार को दोहराया है । भावना के तर्क के सामने विज्ञान के तर्क को उसने हीन बतलाया है । कविता को जीवन की आलोचना कहने से उसका तात्पर्य यही है कि कवि की महानता इसी बात में है कि वह अपने विचारों को किम शक्ति और सुन्दरता के साथ जीवन में प्रयोग करता है । जीवन किसे कहते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर कवि अपनी कविता में देता है । नैतिकता को जीवन का पर्यायवाची मानकर वह कहता है—“नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह करने वाली कविता जीवन ही के प्रति विद्रोह करती है । इसी प्रकार नीति से उदासीन रहने वाली कविता जीवन ही के प्रति उदासीनता बतलाती है ।”

इस प्रकार कविता मानव-जाति के अनुभवों की केन्द्र कही जाती है । साथ ही उसमें जाति की आकांक्षाएँ भी निहित रहती हैं । इस दृष्टि में कविता का उद्देश्य केवल सुखकर भावनाएँ अथवा मानसिक आनन्द उत्पन्न करना ही नहीं है । उसका उद्देश्य इनसे कहीं उच्चतर है; और वह है मनुष्यों को जीवन से समरस करना, उसे जीवन का अर्थ समझाना तथा उसे जीवन की सर्वोत्तम प्रणाली बताना ।

कविता के बिना विज्ञान और तत्वज्ञान दोनों ही अपूर्ण रह जाते हैं । इसी कारण वर्ड्सवर्थ कविता को ‘विज्ञान के रूप का अनासक्त प्रकाशन’ तथा ‘ज्ञान की श्वास और सूक्ष्मतर आत्मा’ कहता है ।

अब हमें यह देखना है कि कविता विज्ञान की अपेक्षा जीवन के क्षेत्र में क्या अधिक बलवती है ? दूसरी ललित कलाओं के समान कविता भी आदर्शांतरण की प्रणाली का उपयोग करती है। अन्तर केवल इतना है कि वह दूसरी ललित कलाओं की अपेक्षा कहीं ऊँची मात्रा में इस प्रणाली का उपयोग करती है। इसलिए एक कला के रूप में कविता की सबसे उच्च शक्ति है — उसकी प्रकाशन-क्षमता। शब्द और विचारों के द्वारा ही वह यह प्रकाशन करती है। किन्तु प्रश्न यह है कि विज्ञान से वह किस प्रकार भिन्न है और उसे 'ज्ञान की सूक्ष्मतर आत्मा' क्यों कहा गया है ?

इसी प्रश्न के उत्तर में अर्नोल्ड ने एक आलोचक के रूप में अपनी योग्यता बतलाई है। किन्तु इसके पहले हमें देखना है कि वर्ड्सवर्थ ने इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया है ? उसका कहना है—“कवि की विशेषता दूसरे कलाकारों की अपेक्षा यही है कि वह बिना बाहरी उत्तेजना के बहुत शीघ्र किसी वस्तु पर विचार या उसका अनुभव कर सकता है और साथ ही इन भावनाओं और विचारों को अधिक दक्षता के साथ प्रकाशित कर सकता है। कवि दूसरे मनुष्यों ही के समान नैतिक भावनाओं और शारीरिक संवेदनाओं का अनुभव करता है तथा उनके कारणों को भी खोज निकाल लेता है। मानवीय विचारों की दृष्टि से वह सोचता और अनुभव करता है तथा अपने भावों का प्रकाशन भी दूसरे मनुष्यों ही के समान करता है।”

इसके बाद वर्ड्सवर्थ गद्य को छोड़कर पद्य में कविता लिखने का कारण बतलाते हुए कहता है—“भावना-प्रधान शब्दों और विचारों से पाठकों के हृदय में जो उत्तेजना उत्पन्न होती है वह छन्दों और पद्यों की नियमितता और संयम से बहुत कुछ सीमित और शान्त हो जाती है।” उसका यह मत इसके पहले प्रगट किये गये मत के विरुद्ध जान पड़ता है जिसके अनुसार छन्दों के बन्धन से मुक्त होने की स्वतन्त्रता ही के अनुसार कविता की महानता नापी जाती है। वर्ड्सवर्थ के कथन से केवल यह प्रगट होता है कि छन्दोबद्ध कविता अधिक रुचिकर होती है; उससे यह प्रगट नहीं होता कि छन्दों में बद्ध होने के कारण कविता अधिक प्रभावशाली हो जाती है।

अब हम अर्नोल्ड के मत की ओर आते हैं। उसका कथन है कि कविता की स्पष्टता का मुख्य रहस्य यही है कि वह भावना के तर्क और विज्ञान के तर्क को एक ही साथ उपयोग करती है—

“कविता की सबसे महान् शक्ति उसकी प्रकाशन-शक्ति ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह विश्व के रहस्य को चित्र खींचकर समझाती है वरन् कविता संसार की वस्तुओं को इस प्रकार हमारे सामने रखती है कि हम में उनके प्रति आत्मीयता का अनुभव उत्पन्न हो जाता है। अपने से भिन्न वस्तुओं के प्रति यह भावना उत्पन्न होती है तभी हम उन वस्तुओं के समीप पहुँचकर उनके असली स्वरूप और उनके रहस्य को समझ सकते हैं और इस प्रकार उन वस्तुओं के द्वारा चकित होने के बदले हम उनके साथ समरस हो जाते हैं। इस भावना से हमें जितनी शान्ति और सन्तोष होता है उतना दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता। कविता का सबसे बड़ा गुण, उसकी सबसे बड़ी शक्ति, यही है कि वह हम में यह समरसता की भावना उत्पन्न करती है।”

मैं इस बात की बहस नहीं करता कि यह भावना बिल्कुल भ्रमपूर्ण है अथवा वह वस्तुओं के सच्चे स्वरूप का परिचय कराती है। मैं केवल यह कह सकता हूँ कि कविता हम में यह भावना उत्पन्न करा सकती है और इसका उत्पन्न कराना ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। विज्ञान के द्वारा हमें वस्तुओं का वह परिचय (गणिष्ट परिचय) नहीं मिलता जो कि कविता की भावना के द्वारा मिलता है। विज्ञान केवल हमारी एक सीमित शक्ति को प्रभावित करता है जब कि कविता पूरे मनुष्यत्व को प्रभावित करती है। कविता में प्राकृतिक आकर्षण के साथ ही नैतिक उच्चता भी सम्मिलित है। इन दोनों के द्वारा वह मनुष्य को प्रभावित कर देती है; वह उसमें सत्य की सन्तोषप्रद भावना भर देती है; वह मनुष्य को विश्व के साथ एकरस कर देती है।

“जितने महान् कवि हुए हैं उनकी रचनाओं में हमें यही दोनों गुण मिलते हैं उनमें प्राकृतिक आकर्षण और नैतिक उच्चता दोनों बातें पाई जाती हैं। इन दोनों प्रकार के कवियों में वे ही ऊँचे माने जाते हैं जिनमें नैतिक उच्चता अधिक हो। शेक्सपियर में हमें इन दोनों गुणों का संतुलन मिलता है।”

इस प्रकार कविता की सबसे ऊँची शक्ति अभिव्यंजना-शक्ति है और उसका मुख्य क्षेत्र जीवन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य ही कविता की सबसे ऊँची कसौटी है। किन्तु सत्य-प्रकाशन की योग्यता के साथ उसमें उपयुक्त शैली की उतनी ही आवश्यकता है। यदि इसके साथ उच्च गम्भीरता (जो कि निष्कपटता से उत्पन्न होती है) मिल जावे तभी कवित्व में पूर्णता आ सकती है।

मैथ्यू अर्नॉल्ड का यह कविता सम्बन्धी आदर्श केवल आदर्श ही नहीं है वरन् उसने इस आदर्श को अपने जीवन में भी प्रयोग करके बतलाया है। उसने होमर, दान्ते, शेक्सपियर और मिल्टन के आदर्श पर दूसरे कवियों की समीक्षा की है। उसकी इस गुण-ग्राहकता के कारण ही आलोचनाशास्त्र का इतना विकास सम्भव हुआ। प्लेटो ने ग्रीक कविता की आलोचना में जिन सिद्धान्तों को निश्चित किया था वे अपनी कठोरता के कारण असफल रहे। अरस्तू के सिद्धान्त भी एडीसन की उत्साहपूर्ण आलोचना के सामने पीके-से दीखने लगे। प्राचीन ग्रीक और आधुनिक कविता की आलोचना करने का अन्तर प्लेटो और अरस्तू तथा आधुनिक आलोचकों के विचारों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। रस्किन का यह सिद्धान्त है कि कलाओं के अन्तर्गत में नैतिकता विराजमान है। इमरसन ने भी कविता की स्थायी शक्ति को स्वीकार करते हुए घोषित किया—“जब कवि गाता है तो सारा संसार इस आशा से मुग्ध होकर सुनने लगता है कि अब ईश्वर के रहस्य का उद्घाटन होने वाला है।” इसी बात का समर्थन करते हुए अर्नॉल्ड ने कहा था कि कविता ही में हमारी जाति भविष्य के लिए निश्चित मार्ग पा सकती है।

दशम अध्याय

नाटक—एक सम्मिलित कला

कविता में यदि आन्तरिक रूप को प्रधानता दी गई है तो नाटक में बाह्य रूप मुख्य हो गया है। साहित्य और नाटक में यदि कोई विशेष अन्तर है तो वह है रंगभूमि। और यही—यथार्थ के कारण यथार्थ का प्रदर्शन—नाटक को एक अलग कला का रूप दे देता है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि नाटक की यह यथार्थता जीवन की सत्यता से भिन्न है। यही यथार्थता, जो कि नाटक में जीवन की सत्यता से भी अधिक यथार्थ हो उठती है, नाटक की आत्मा है।

नाटक में जीवन का एक चुना हुआ नमूना ही रंगमंच पर लाया जाता है; पूरे जीवन को प्रगट करना सम्भव नहीं होता। जीवन के इस अंश में मानव चित्रण गहरा होता है। उसका रंग अधिक चटक, शब्द अधिक स्पष्ट और संगीतमय तथा क्रिया अधिक शक्तिशाली होती है। उसके पात्र पुरुष के व्यक्तित्व को प्रगट नहीं करते वरन् उसकी श्रेणी या प्रकार (Type) को प्रगट करते हैं। उसके पात्र जिस वातावरण में चलते-फिरते हैं वह अधिक चमत्कार-पूर्ण होता है। इन कारणों से नाटक प्रत्यक्ष जीवन से भी अधिक सत्य जान पड़ने लगता है और चित्र या कविता से भी अधिक यथार्थ दीख पड़ता है।

ऐसा क्यों होता है इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। थोड़ा-सा भी विचार करने पर मालूम होता है कि जीवन का माप जीवन की घटनाओं से नहीं होता वरन् संवेदनाओं से होता है। संवेदना भी दो बातों पर निर्भर है—बाह्य उत्तेजना और निजी चित्त। यदि बाहरी उत्तेजना से चित्त पर इस प्रकार का प्रभाव डाला जावे जो कि दैनिक जीवन में अनुभवों से अधिक शक्तिशाली हों तो हममें अधिक तीव्र संवेदना उत्पन्न होता है। यही परिवर्धित संवेदना हम में

परिवर्धित जीवनी-शक्ति का अनुभव कराती है। इसी कारण नाटक दर्शकों के हृदय में प्रत्यक्ष जीवन के अनुभवों से भी अधिक यथार्थ जीवन की भावना उत्पन्न कराता है।

ग्रीक वियोगान्त नाटक में भी अरस्तू के अनुसार तीव्र संवेदना उत्पन्न करने की शक्ति विशेष रूप से है। उसका कथन है कि वियोगान्त नाटक में वह सब कुछ वर्तमान है जो एक प्रबन्ध काव्य में होता है। साथ ही उसमें संगीत और दृश्यों के साधन से काव्य से भी अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। संगीत ही के कारण नाटकों से सुखकर भावनाओं का विस्तार होता है। वर्तमान नाटकों के विषय में यह बात और अधिक सच है।

नाटक का इतिहास संवेदना ही से प्रारम्भ होता है और उसी में समाप्त भी। संगीत और नृत्य की प्रभावशालिनी शक्ति जंगली और ग्रामीण नृत्यों में भी स्पष्ट है। उनमें मानवी भावों का उतार-चढ़ाव मौजूद रहता है। हर्ष और शोक तथा कर्म और विश्राम के क्रम का परिचय भी हमें कवियों के स्वभाव में मिलता है। अरस्तू के अनुसार गम्भीर तथा उच्छृङ्खल दोनों प्रकार के कवि-स्वभावों के अनुसार कविता का विभाजन किया जा सकता है। गम्भीर कवियों ने महान् कार्यों का अनुकरण और हलके कवियों ने क्षुद्र कार्यों का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया। नाटकों में भी उनका अनुकरण होने लगा।

ग्रामीण नृत्यों और गीतों से उन्नत होते-होते शिक्षित संगीतज्ञों के द्वारा संगीतमय अभिनयों का विकास हुआ। इनमें संगीत से भीतर की भावना तालयुक्त क्रियाओं के द्वारा व्यक्त की जाती थी। इसके बाद इन गीति-प्रधान अभिनयों में प्राचीन कथानक जोड़े जाने लगे जो कि संगीत के बीच-बीच में गाये जाते थे। धीरे-धीरे ये कथानक नाटक के रूप में परिणत हो गये और उनका गायक ही अभिनेता बन गया। किन्तु इस परिवर्तन के पहले नाटककार में इस बात की इच्छा उत्पन्न हुई कि उसके पात्रों की वाणी में वह शक्ति आ जावे जो कि साधारण बोलचाल में होती है। इसी कारण काव्य के छन्दों के बदले व्यंगपूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया जाने लगा। इसी को देखकर अरस्तू ने

वियोगान्त नाटक को (जिसमें काव्य की गम्भीरता पूर्ण रूप से सुरक्षित थी) कविता का सर्वोच्च और विकसित रूप माना है । नाटक में धीरे-धीरे गीत, प्रबन्ध, काव्य और व्यंग्य तीनों सम्मिलित हो गये । उसमें वाद्यों का संगीत, तालयुक्त क्रियाएँ और संकेत तथा रंगमंच तीनों एकत्रित हो गये ।

वर्तमान नाटक में भी कुछ इसी प्रकार का विकास पाया जाता है । नाटक तत्व में विशेषता प्राप्त करने के लिए उसमें से कवित्व का अंश धीरे-धीरे कम होने और दृश्यों का अंश अधिक बढ़ने लगा । ग्रीक नाटक और वर्तमान नाटकों में अन्तर स्पष्ट है । वर्तमान नाट्य-कला का कलाकार और अभिनेता किसी भिन्न दिशा ही में लक्ष्य रखकर बढ़ते जा रहे हैं ।

अरस्तू ने ग्रीक नाटक को निम्नलिखित विभागों में बाँटा है—प्रारम्भ, कथानक, निष्क्रमण और संगीत । प्रारम्भिक भाग (Prologue) में सम्मिलित संगीत होता है । कथानक में (Episode) नाटक का मुख्य भाग आता है और निष्क्रमण (Exodus) से नाटक समाप्त होता है । दूसरी दृष्टि से उसने वियोगान्त नाटक को दो भागों में बाँटा है—(१) विकास (Development) और (२) परिणति (Evolution) । मुख्य नाटक से बाहर की घटनायें विकास में सम्मिलित समझी जाती हैं और जो शेष रहती हैं वही परिणति कहलाती हैं । इस प्रकार ग्रीक नाटक आजकल के पाँच अंक वाले नाटकों से अधिक भिन्न नहीं हैं ।

इसके अतिरिक्त ग्रीक नाटक कई बातों में बहुत सीमित था—उसके पात्र तीन या चार रहते थे । उसका कथानक भी कुछ विषयों में सीमित रहता था । उसका रंगमंच भी अधिक विकसित नहीं था । कथानक में एकता निवाहने के लिए दूसरे कथानक बहुत कम आने पाते थे । धार्मिक विश्वासों और राज्य से सम्बन्धित होने के कारण कवियों को वर्णनीय विषय के सम्बन्ध में बहुत सीमित रहना पड़ता था । नाटककार विषयों के चुनाव में कुछ अधिक स्वतन्त्र था किन्तु उसमें भी वियोगान्त नाटककार का क्षेत्र केवल कुछ पौराणिक कथाओं ही में मर्यादित रहता था ।

रंगमंच के विषय में भी अनेक मर्यादायें थीं । ग्रीक रंगमंच खुले आकाश

में नीचे तथा विशाल जन-समुदाय के बीच में होता था। उसके अभिनेता चेहरे आदि लगाकर अपना स्वर्ग बनाते थे जिसके कारण भावभंगी वक्तृत्व-कला अथवा हाव-भाव के प्रदर्शन में वे असमर्थ होते थे। उन नाटकों का अभिनेता बोलती या चलती हुई मूर्ति के सिवा अधिक कुछ नहीं रहता था। सारा रंगमंच सगमरमर की मूर्तियों और चित्रों से सजाया जाता था और उसके पात्र भी उन्हीं मूर्तियों या चित्रों के समान दिखते थे। वे शब्द कौशल या भावभंगी दिखलाने के बदले मन्थर गति से हिलते-डुलते और गम्भीर ध्वनि करते थे। इस प्रकार के वचनपनों में मानसिक भावों का प्रदर्शन विशाल में जन-समुदाय तक धीमे संगीत के साथ आवाज़ पहुँचाना तक कठिन हो जाता था।

वर्तमान रंगमंच में ये सब बातें बिल्कुल बदल गई हैं। रंगमंच के छोटे होने के कारण भावभंगी, हाव-भाव तथा स्वर का उतार-चढ़ाव दिखलाना अभिनेता के लिए सरल होता है। दृश्यों और यवनिकाओं की सहायता से नाट्य-कला अधिक उन्नत हो गई है। वर्तमान नाटक ने ग्रीक नाटक ही का अनुकरण किया है किन्तु कथानक आदि सभी बातों में उससे बहुत आगे बढ़ गया है। उसके कथानक में सभी प्रकार के विषयों का समावेश होने लगा है। वर्तमान काव्य के समान ही उसका भी विषय-विस्तार हुआ है। श्री मोल्टन ने शेक्सपियर की समालोचना करते हुए इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

नाटककार अपने विचारों को कथानक में मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। वह विज्ञान और कला दोनों का सम्मेलन केन्द्र है। कलाकार जिस आकार का निर्माण करता है उसी को नाटककार मानव-जीवन में उतारकर कथानक का रूप दे देता है।

रंगमंच में परिवर्तन होने ही के कारण अभिनेता की शक्ति भी बढ़ गई है। आधुनिक अभिनेता केवल कवि के शब्दों ही को हाव-भाव के साथ नहीं दुहराता। वह अभिव्यंजना के साथ सृजन भी करता है। केवल एक दृष्टि फेंककर वह अपने स्वर में उतार-चढ़ाव करता है। वह जिन शब्दों का उच्चारण करता है उनमें एक नया अर्थ भर देता है। रस से कभी-कभी नाटककार

भी स्तम्भित रह जाता है जैसा कि लेकेन ने वाल्टेयर को किया था। वह अपने चेहरे, भावों और कंठ के स्वरों से केवल नाटककार के अर्थ ही को प्रगट नहीं करता वरन् कवि की भावना में भी एक नवीनता उत्पन्न कर देता है। पात्रों के चरित्रों का अध्ययन करने ही से यह बात सम्भव होती है। दृश्यों का बाहुल्य और ऐतिहासिक पुरुषों की वेपभूषा का अनुकरण करना भी इस समय बहुत सरल हो गया है। यहाँ तक कि उक्त उपकरणों की सहायता से शेक्सपियर के नाटक भी इतनी अच्छी तरह खेले जा सकते हैं जितने कि शायद शेक्सपियर के समय में भी न खेले जा सकते थे।

नाटक-कला अन्य कलाओं के समान ही एक विशेष कला है। दृश्यों, संगीत तथा अभिनय के द्वारा उसमें विशेषता उत्पन्न होती है। इन सब में अभिनय बहुत महत्व रखता है। नाटककार की कृति को बिना बदले हुए भी अभिनय और रंगमंच के दृश्यों की सहायता से नाटक को अधिक यथार्थ बनाया जा सकता है।

नाटक के विकास में जिन बातों ने विशेष उन्नति की है वे चार विभागों में बाँटी जा सकती हैं—(१) विषय-विस्तार, (२) कविता के बदले गद्य का उपयोग, (३) अभिनय की उन्नति और (४) रंगमंच में वास्तविकता का प्रदर्शन।

कविता से उदय होने वाले नाटक और कथा साहित्य दोनों ही में विषय विस्तार अधिक देखा जाता है। ये दोनों धलायें विज्ञान से और प्रजातन्त्र (जो कि वर्तमान युग की विशेषताएँ हैं) से बहुत अधिक प्रभावित हुई हैं। इन विशेषताओं के कारण साहित्य और कला दोनों ही में मानव-जीवन के सभी पहलुओं और रूपों का अच्छी तरह प्रदर्शन हुआ है। इस युग का प्रभाव चित्रकला और फोटोग्राफी इन दोनों की तुलना से स्पष्ट किया जा सकता है। फोटो में चित्रकला के समान दृश्य का चुनाव या विस्तार नहीं होता। उसमें एक विशेष क्षण या दृश्य का सीमित चित्र ही लिया जा सकता है। भक्ति या प्रकृति का आदर्श चित्र उसमें नहीं आ सकता। यही हाल आधुनिक नाट्य और

कथा-साहित्य का है। फोटोग्राफी ही के समान वह भी जीवन का एक सीमित और यथार्थ चित्र ही ग्रहण कर सकता है।

कथा-साहित्य की अपेक्षा नाटक अपने विषयों के चुनाव में अधिक सीमित है। अरस्तू ने काव्य और नाटक में जो भेद बतलाया वही नाटक और कथा में भी लागू होता है। उसने कहा है कि वियोगान्त नाटक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। नाटक में आश्चर्य का अंश अधिक होता है; जब कि काव्य में केवल असंभवनीय ही के लिए क्षेत्र रहता है क्योंकि उसमें क्रिया हमारे सामने नहीं रहती है।

नाटक में भी केवल तर्क या इंगित से ही सत्य का ज्ञान नहीं होता वरन् कल्पना से भी काम लेना पड़ता है। अरस्तू के शब्दों में कवि को ऐसी बात चुननी पड़ती है जो कि असंभव होते हुए भी विश्वसनीय हो। तर्क जिस बात को असंभव समझता है उसी को कल्पना सम्भव करके बतलाती है। इसीलिए साहित्य और कला में इंगितों की अपेक्षा कल्पना का निर्णय अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से नाटक को अपेक्षा कथा-साहित्य में कल्पना के प्रयोग के लिए अधिक विस्तृत क्षेत्र रहता है। मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में तथा उसके मानसिक और क्रियात्मक दोनों ही पहलुओं को पेश करने में नाटक की अपेक्षा कथा अधिक समर्थ है, क्योंकि उसका प्रदर्शन हमारे चर्म-चक्षुओं के बदले मानसिक नेत्रों से अधिक देखा जा सकता है।

अब हम वर्तमान काल में नाटक में होनेवाली उन चार बातों पर कुछ विचार करेंगे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। विषय-विस्तार के सम्बन्ध में विचार करने पर जान पड़ता है कि आधुनिक नाटककारों ने प्राचीन विचार-धारा को बिल्कुल ही बदल दिया है। उनमें छोटी-छोटी और सूक्ष्म बातों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। साथ ही वर्णनात्मक या विनोदात्मक नाटकों की अपेक्षा विचार-प्रधान या समस्या-प्रधान नाटकों की ओर अधिक झुकाव हो गया है। उदाहरण के लिए इब्सन ने अपने नाटकों में परम्परा और विवाह की समस्याओं पर अधिक प्रकाश डाला है। सामयिक और सूक्ष्म बातों पर आधुनिक नाटक अधिक ध्यान देता है। उपन्यासों को नाटकीय रूप

देने की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है । चरित्र-विश्लेषण, कार्य और आन्तरिक उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति जो कि उपन्यास की विशेषतायें हैं, अब नाटकों में भी प्रधान रूप लेने लगी हैं । जो विषय या चरित्र लोकप्रिय और सर्व परिचित होते हैं वही श्रोताओं को अधिक रुचिकर हो सकते हैं और उन्हीं के विषय में नाटककार सूक्ष्मता के साथ चित्रण कर सकता है । इसलिये आधुनिक नाटक-कार ने ऐतिहासिक या धार्मिक विषयों को छोड़कर नित्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले साधारण विषयों ही को चुन रखा है ।

गद्य का प्रयोग—कविता के बदले गद्य का उपयोग होने के कारण भी आधुनिक नाटक में अधिक यथार्थता आ गई है । लोगों की बोलचाल की भाषा में नाटक लिखने से नाटककार को सफलता भी मिलती है और नाटकों की लोकप्रियता भी बढ़ती है । बहुत से नाटककारों के नाटक लिखने के साथ ही रंगमंच पर आ जाते हैं । शेक्सपियर ने गद्य और पद्य दोनों ही का अपने नाटकों में सफलतापूर्वक उपयोग किया है । वैसा करना हरएक के लिए सम्भव नहीं है । सारांश, बोलचाल की भाषा के साथ लोकप्रिय विषयों के समावेश से नाटक नित्य जीवन से समीप हो गया है और इसी कारण वह यथार्थता के भी समीप आ गया है ।

अभिनय और रंगमंच

यदि नाटक की उन्नति किसी दिशा में सबसे अधिक हुई है तो वह है अभिनय और रंगमंच । डेटेराट के अनुसार सबसे बड़ा अभिनेता वही है जो सबसे कम अनुभव करता है । उसका लक्षण यही है कि वह महान् से महान् करुणाजनक दृश्यों में भी अपनी शान्ति को न खोवे । किन्तु बिलियम आर्थर ने बहुत से अभिनेताओं से इस सम्बन्ध में जब प्रश्न किये तो उनका उत्तर इस मत के बिल्कुल विपरीत ही निकला । उनका सारांश यही था कि अभिनेता जिन भावनाओं को प्रकाशित करता है उनका वह सचमुच अनुभव करने लगता है । जब वह रोने का काम करता है तब सचमुच ही उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं । इसी प्रकार उसकी हँसी भी स्वाभाविक हँसी होती है । उन उत्तरों से यह भी प्रकट होता होता है कि अभिनेता के व्यक्तित्व का भाग-

भी नाटक में कम नहीं है। इसका एक कारण रंगमंच के बाहर उसका अध्ययन ही है। दूसरा कारण यह है कि रंगमंच पर भी उसे विशेष प्रेरणा मिलती है, यद्यपि इस भावना का क्षेत्र बहुत सीमित है। कारण कि उसे दूसरे अभिनेताओं के सहयोग में काम करना पड़ता है और यदि वह निश्चित संवाद से जरा भी इधर-उधर हुआ अथवा उसने कोई नये हाव-भाव प्रदर्शित किये तो दूसरे अभिनेता गड़बड़ी में पड़ सकते हैं। वह रंगमंच और दर्शकों के कारण भी बन्धन में रहता है। इतने बन्धन होते हुए भी उसकी वक्तृत्व-शक्ति नाटक के लिए बहुत उपयोगी होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जब वह अपने अभिनय में स्वाभाविक भावनाओं को प्रगट करता है तब उसका दर्शकों पर बड़ा चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है।

श्री आर्थर की जाँच से एक और सिद्धान्त निकलता है, और वह यह है कि अभिनेताओं में व्यक्तिगत अनुभव भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अरस्तू ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि जो अभिनेता अपने अभिनय के भाव को हृदय में अनुभव करता है वही दूसरों पर प्रभाव डाल सकता है। इससे सिद्ध होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर जो अभिनेता मानव-जीवन के महान् सत्यों को स्वयं अनुभव करता है, जो उसकी दुर्घटनाओं से स्वयं भी अभिभूत होता है और जो अपनी आत्मा और बाह्य संसार में आत्मिक सम्बन्ध देखता है वही अपनी अभिनय-कला में सफल हो सकता है। यह बात वियोगान्त नाटकों की दुखद घटनाओं के लिए जितनी सच है उतनी ही सुखान्त नाटकों के प्रेम और हर्षमयी घटनाओं के लिए भी सच है। सारांश यह कि अभिनेता के पास व्यक्तिगत अनुभूति की अक्षय निधि और उसे प्रगट करने की अपूर्व क्षमता होती है।

रंगमंच के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि दर्शकों की सुन्दरता और उपयुक्तता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते।

कहा जा चुका है कि अन्य कलाओं के समान नाटक भी एक कला है। कवि, अभिनेता और सूत्रधार सब मिलकर उस कलाकृति को तैयार करते हैं इसलिए उसका सुन्दर होना अनिवार्य है। कजिन्स के अनुसार हमारे मन में

कला जो भावनायें उत्पन्न करे वे सब सौन्दर्य की भावना से प्रेरित और शासित होनी चाहिएँ । यदि कला केवल भय और करुणा की भावना उत्पन्न करे तो उससे हमारा मनोरंजन नहीं होता ।

किन्तु इस सिद्धान्त से नाटक का क्षेत्र सीमित हो जाता है । विषयों के चुनाव में वह बँध जाता है । यद्यपि वह यथार्थता-मुक्त प्रदर्शन में स्वतन्त्र रहता है किन्तु उसे वे विषय बिल्कुल ही छोड़ देने पड़ते हैं जो शारीरिक या नैतिक सौन्दर्य प्रदर्शित नहीं करते ।

यदि नाटक का विकास यथार्थता की ओर होना है तो उसमें केवल साहित्यिक कसौटी पर कसना उचित न होगा । यदि हम इस दृष्टि से नाटक-कला की उन्नति करें तो वह दिन-प्रतिदिन सौन्दर्य और पूर्णता के ध्येय की ओर बढ़ती जायगी ।

एकादश अध्याय

कथा-साहित्य

वर्तमान युग में साहित्य से यदि सबसे अधिक किसी विषय की रचना और खपत होती है तो वह है—कथा-साहित्य। प्रत्येक भाषा के साहित्य में उपन्यासों और आख्यायिकाओं की बाढ़-सी आ गई है। उनके प्रचार से पता लगता है कि वे कितने लोकप्रिय हो गये हैं। किन्तु इसके कारण पर भी विचार करना आवश्यक है। बाल्टर वेसेन्ट ने अपनी पुस्तक (Art of Fiction) में इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है—

“उपन्यास अमूर्त विचारों को जोवित सोंचों में ढाल देता है। वह हमको विचार प्रदान करता है, हमारे विश्वास को दृढ़ करता है और उच्च नैतिकता का प्रचार करता है। वह करुणा, गुण-ग्राहकता और भय की भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह महानुभूति को उत्पन्न करके उसे जागृत रखता है। वह एक विश्वव्यापी शिक्षक है। जन-समाज का अधिकांश भाग उसी को पढ़ सकता है और उसी के द्वारा वह दूसरे मनुष्यों को जानता है। उससे जन-समाज की उदासीनता दूर होती है तथा उनमें विचार, भावना, ज्ञान और आकाङ्क्षाएँ उत्पन्न होती हैं। वह लोगों को बातचीत का तरीका बतलाता है तथा उनकी भाषा को उद्धरणों, उपाख्यानों और उदाहरणों से सम्पन्न करता है। उपन्यास जन-समाज के लिए एकमात्र आनन्द का स्रोत है। यही कारण है कि पुस्तकालयों में तीन-चौथाई पुस्तकें कहानी और उपन्यास की होती हैं और उनमें से भी उपन्यास ही अधिक पढ़े जाते हैं। जनता पर प्रभाव उत्पन्न करने में उपन्यासों की जो शक्ति है उसका मुकाबिला दूसरी सब कलायें मिलकर भी नहीं कर सकतीं। किसी ने कहा था—“देश के कानून बनाने वाले चाहे जो हों इसकी मुझे परवाह नहीं, मुझे तो केवल कविता लिखने दीजिए।”

इस वचन को थोड़ा-सा बदलकर यदि ऐसा कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होता कि “यदि मुझे उपन्यास लिखने दिया जाय तो मुझे कानून बनाने वालों की परवाह नहीं है।”

उक्त उद्धरण को अतिशयोक्तिपूर्ण मानने पर भी इतना तो निश्चित है कि उपन्यास में एक बड़ी शक्ति है जिसका उपयोग पहले भी किया गया है और भविष्य में तो और भी अधिक किया जायगा फिर वह उपयोग चाहे मानव-चरित्र के अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए। किन्तु अभी तक उपन्यास के साहित्यिक महत्व के विषय में बहुत कम विचार किया गया है। क्या उपन्यास केवल जानकारी देने वाले साधन से अधिक कुछ नहीं है? क्या साहित्य के एक अंग के रूप में उपन्यास अपने कलात्मक गुण की सीमा पर पहुँच गया है? अथवा यदि अभी नहीं पहुँचा है तो क्या भविष्य में वह कलात्मक पूर्णता तक पहुँचने की क्षमता रखता है जिससे कि अन्य कलाओं के बीच में अपना स्थान बना सके?

मर बार्लर वेसेन्ट ने अपना यह निश्चित मत दे दिया है कि प्रत्येक दृष्टि से उपन्यास एक कला है और वह चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत और कविता की बराबरी के आसन पर बिठाई जा सकती है। किन्तु दूसरे लोग इस मत से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं—“माना कि उपन्यास का प्रचार अधिक है, वह सामयिक विचारों और आवश्यकताओं के अनुकूल अपना रूप धारण कर सकता है, वह विज्ञान और प्रज्ञातन्त्र के प्रभावों को आत्मसात कर सकता है और वह युग की शक्तियों का आकलन भी कर सकता है। किन्तु इन्हीं विशेषताओं के कारण वह कला की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। उपन्यास की लोकप्रियता ही उसे कला का रूप देने में बाधक होती है और उसे काव्य-साहित्य की श्रेणी से अलग कर देती है।”

इस समस्या को हल करने के लिए इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि साहित्य के एक अंग के रूप में उपन्यास की क्षमता और शक्ति क्या है? हम इस विषय पर आलोचना की आदर्श-प्रणाली के दृष्टिकोण ही से विचार करेंगे। हम प्लेटो और उसके शिष्य विक्टर कजिन्स के इस सिद्धान्त को मानकर

ही चलेंगे कि साहित्य में बाहरी रूप की अपेक्षा आन्तरिक विचार ही प्रधान है तथा साहित्यिक उच्चता कलाकार की नैतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

यदि हम उन्नीसवीं सदी में सृजनमूलक साहित्य पर विचार करें तो हमें उसमें दो विचारधाराएँ प्रधान दीखेंगी। पहली यह कि वर्तमान युग में नाटक अधिकाधिक वास्तविकता की ओर बढ़ रहा है। इसी कारण उसके प्रधान तीन अंगों (साहित्य, रंगमंच और अभिनय) में से अन्तिम दो की अपेक्षा साहित्य का महत्व बहुत कम हो गया है। इसके साथ ही साथ गूढ़ विचारों को उपस्थित करने के लिए दूसरे साधनों का उदय हो गया है जैसे सभास्थल, समाचारपत्र और उपन्यास। इन्होंने वर्तमान सामाजिक जीवन में नाटक का महत्व बहुत कम कर दिया है। इसलिए प्राचीन काल में नाटक जैसा उच्च और गूढ़ विचारों को प्रगट करने का जो एकमात्र साधन था वह अब नहीं रह गया।

इस युग की दूसरी प्रवृत्ति है कविता में से क्रियात्मक भाग का महत्व कम हो जाना। जैसे ही आकार के स्थान पर विचार का महत्व स्वीकार किया गया और अभिव्यंजना-शक्ति को कविता का प्रधान लक्षण माना गया, वैसे ही क्रिया-शक्ति के प्रदर्शन का महत्व कम हो गया। गत शताब्दी के अन्तिम भाग से कविता मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का चित्रण और पार्थिव जगत् के भीतर आत्मिक तत्व की खोज में अधिकाधिक प्रवृत्त होने लगी। वर्तमान काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से तथा भिन्न-भिन्न देशों की आधुनिक कविताओं और प्राचीन कविताओं की तुलना करने से यही तत्व निकलता है कि काव्य में क्रिया का स्थान विचार ने ग्रहण कर लिया है।

इस प्रकार उपन्यास दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण हो गया है—काल्पनिक चित्रों द्वारा गूढ़ विचारों के व्यक्त करने में उसने नाटक का स्थान ले लिया है और दूसरे सामयिक मानव-जीवन का चित्र खींचने में उसने विशेष क्षमता बतलाई है। इसका एक कारण यह भी है कि पद्यात्मक कविता अधिकाधिक विचारप्रधान होती जा रही है। साहित्य के अंग के रूप में उपन्यास में काव्यात्मक कृति के साथ व्यौरेवार इतिहास और तत्वज्ञान का अनुभव भी सम्मिलित हो गया है। इस प्रकार का सम्मिलन अभी तक किसी भी साहित्य

कृति में नहीं हुआ था। यद्यपि उपन्यास-कला अभी अपनी प्राथमिक अवस्था ही में है और केवल आंशिक रूप ही से विकसित हुई है, उसने युग के मस्तिष्क पर एक विचित्र प्रभाव डाल दिया है। उसकी प्रधान अपील युवकों के लिए होते हुए भी वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों के लिए भी उसका आकर्षण कम नहीं है। यदि वह इसी प्रकार जीवित जागृत वस्तु बनी रही तो थोड़े ही दिनों में सबसे अधिक प्रभावशाली हो उठेगी।

उपन्यास के प्रचार ने साहित्यिक मस्तिष्क में एक अशान्ति पैदा कर दी है। बुद्धि के टेकेदारों ने उपन्यास से घृणा प्रगट करते हुए उसे समाज के लिए बहुत बड़ा खतरा बतलाया है। किन्तु जब वे ही किसी अच्छे उपन्यास की आलोचना करते हैं तब कुछ दूसरा ही मत प्रगट करने लगते हैं। इमरसन सरीखा प्रतिभाशाली व्यक्ति भी कहता है कि उपन्यास ने अभी तक वाणी प्राप्त नहीं की किन्तु उसी सांस में यह भी कहता है कि Jane Eyre सरीखे उपन्यासों ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दिया है। स्वयं मैथ्यू अर्नोल्ड ने ताल्स्टाय के प्रसिद्ध उपन्यास Anna Karenina की आलोचना करते हुए कहा है—“मुझे सन्देह है कि ताल्स्टाय ने अपने उपन्यास की शिक्षाओं द्वारा अपने धार्मिक सन्देश को यहाँ तक आगे बढ़ाया है।” किन्तु साथ ही साथ उससे प्राप्त होने वाले आनन्द की चर्चा करते हुए वह इस बात का खेद प्रकाशित करता है कि ताल्स्टाय ने गद्य-लेखन क्यों छोड़ दिया।

जान पड़ता है कि साहित्य के सूत्रधारों ने उपन्यास के प्रति जो यह अविश्वास और अवहेलना प्रगट की है उसका कारण उनकी खामख्याली ही है। एक ओर तो वे उपन्यास की निन्दा इसलिए करते हैं कि वह विचार प्रगट करने का उपयुक्त साधन नहीं है और दूसरी ओर वे उसमें निहित सन्देशों के लिए उसकी प्रशंसा भी करते हैं। शायद साहित्य समालोचक उपन्यास के प्रवेश को कला के क्षेत्र में अनधिकार चेष्टा समझते हैं। जब स्वयं उपन्यास-लेखकों ने अपनी कला पर प्रकाश डालना शुरू किया तब पाठकों के चित्त में कुछ धैर्य हुआ।

अंग्रेजी उपन्यासकारों में जार्ज मेरीडिथ एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। अपनी सफलता के कारण बतलाते हुए उसने कहा है कि अपने विचार प्रगट करने के लिए गद्य को माध्यम चुनना ही इसका कारण है। शेक्सपियर के बाद शायद इसी लेखक को लेखन में इतनी क्षमता प्राप्त हुई है। वह शब्द की शक्ति और उसके उपयोग को अच्छी तरह समझता है। वह जानता है कि छन्दों के बन्धन से मुक्त हो जाने पर शब्द अधिक संवेदनशील, अधिक शक्तिशाली और जनता की कल्पना तक पहुँचने का अधिक व्यापक साधन बन जाता है। इसलिए विचारों के प्रकाशन के लिए गद्य ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। उसका प्रत्येक वाक्य कविता की लड़ियों ही के समान कोमल और मधुर है। कविता में जो शक्ति संगीत और छन्द में खर्च होती है वही गद्य में अर्थ-प्रकाशन और सूक्ष्म अभिव्यक्ति में लगती है। गद्य ही में उसने अपने युग के विचारों को व्यक्त करने के लिए अपनी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया है और गद्य ही को वह जीवन की प्रभावयुक्त अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन मानता है। उसके लिए कथा-साहित्य यथार्थ जीवन का सारांश है और इसी कारण वह उपन्यास ही के द्वारा वर्तमान युग के रस का आस्वादन कराता है।

कथा-साहित्य के विषय में मेरीडिथ ने अपने विचार Diana of the Crossways नामक उपन्यास में प्रगट किये हैं। उसमें उसने उपन्यास की वर्तमान परिस्थिति और भविष्य के विकास की रूपरेखा बताई है। बहुत से लोग उपन्यास को आलसी मनुष्यों के समय काटने का साधन समझते हैं और पढ़ने में थोड़ी भी रुचि रखने वाले जन-समाज को आलसी बनाने का उपाय मानते हैं। इन मतों को देखते हुए कहना पड़ता है कि अब समय आ गया है जबकि उपन्यासकार को अपनी कला में प्रौढ़ता लानी चाहिए। अन्यथा वह अपने समर्थकों के होते हुए भी लुप्त हो जावेगी। पुराने जमाने के समान प्रेमकथा का आदर्श अब नहीं चलेगा। यद्यपि बहुत लोग यह मानते हैं कि उसने भी एक समय उपयोगी कार्य किया है किन्तु वर्तमान काल के प्रकाश में उसका यह स्वरूप टिक नहीं सकता।

कथा-साहित्य की पुनर्जागृति केवल सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है। मेरीडिथ के मतानुसार—“बिना तत्वज्ञान के आधार के कथा-साहित्य केवल कंकाल अथवा जीवनहीन मूर्तियों के समान रह जाता है; किन्तु तत्वज्ञान की सहायता से उसमें मानवता का आकार और सौन्दर्य आ जाता है। उसके द्वारा वह उन्नतिशील हो जाता है। पाठकों के लिए वह विचारने तथा मानसिक विश्लेषण की वस्तु उपस्थित करता है।”

कथा-साहित्य में चरित्र-चित्रण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। लेखन-कला का मुख्य गुण है—अन्तर्दृष्टि को जागृत करना। हमारे चंचल चित्तमें लम्बे वर्णन स्थायी नहीं रह सकते। वाल्टर वेसेन्ट के मतानुसार—“वही कला सर्वोच्च है जो कि पाठक को अपने साथ ले जाती है और उसे स्वयं देखने के लिए प्रेरित करती है। यह कार्य वही लेखक कर सकता है जो कि अपने चरित्रों को पहले ही से बुद्धिगम्य बनाता है और उन्हें पाठकों के सामने स्पष्ट आकार में सामने खड़ा कर देता है और बाद में उनका विकास करता हुआ उन्हें पूर्णता प्रदान करता है।”

जार्ज इलियट ने अपनी डायरी में उपन्यास लिखते समय की मनःस्थिति का अच्छा वर्णन किया है। जब उसका मन स्वतन्त्रता और कविता की भावना से भर जाता था तभी वह अपनी श्रेष्ठ कलाकृति की रचना कर सकती थी। उसने अरस्तू के समान व्यक्तियों को उपस्थित न करके उनकी श्रेणी का चरित्र-चित्रण किया है। उसने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों और मानसिक चिन्तनों को उपन्यासों के रूप में ढाला है। जब वह अपने आपे में नहीं रहती थी और अपने चरित्रों से एक प्रकार से अभिभूत-सी हो जाती थी तभी वह सबसे अच्छे ग्रन्थ लिख सकी।

तत्वज्ञान का आधार उपन्यास के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी वह उसका सर्वस्व नहीं है। अपनी कथावस्तु को स्पष्ट करने के लिए ऐसे मार्कों के वाक्य और कथोपकथन होना आवश्यक है जिनसे उनका कथानक स्पष्ट हो जाय।

एक दूसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार क्राफोर्ड के अनुसार उपन्यास एक जेबी नाटक है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान उपन्यास ग्रीक वियोगान्त नाटक

और एलिजाबेथ के समय के अंग्रेजी नाटकों ही का उत्तराधिकारी है। इतना होते हुए भी जीवन को आदर्शरूप में उपस्थित करने में तथा अनुकरण की प्रारम्भिक भावना को प्रगट करने में उपन्यास जितना सफल हुआ है उतना नाटक नहीं हुआ। दोनों के रूप और तरीकों में भेद होते हुए भी दोनों का क्षेत्र और स्वरूप प्रायः एक ही है। आधुनिक युग में तो दोनों ही में परिवर्तन हो गया है। प्रजातन्त्रवाद ने मनुष्य की बाहरी स्थिति को गौरव बताकर उसके व्यक्तिगत जीवन को ऊँचा कर दिया है जब कि पुराने नाटक धर्म, राष्ट्रीयता और ऐतिहासिकता ही तक सीमित रहते थे। इनके बदले अब हमारा ध्यान मनुष्य के व्यक्तित्व पर केन्द्रित हो गया है। असल में साहित्य के वाहन ही नहीं वरन् स्वयं मनुष्य का जीवन भी परिवर्तित हो गया है। रेल, जहाज, तार और समाचार-पत्रों और रेडियो के बाह्य परिवर्तनों के साथ मनुष्य का मानसिक क्षेत्र भी विस्मृत हो गया है। प्राचीन काल की अनुभूतियाँ, आचार-व्यवहार तथा वातावरण सभी कुछ बदल गये हैं। कलाकार को भी उसी के अनुसार अपनी कला के साधनों में भी परिवर्तन करना पड़ेगा। कहा जा चुका है कि नाट्य-कला की सीमाओं में बँधे रहने के कारण नाटक वर्तमान जीवन के गूढ़ और विस्तृत क्षेत्र तक पहुँचने में असमर्थ है। कलाकार जब तक जीवन के पूरे चित्र को हमारे सामने न रखे तब तक जन-समाज को उससे पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता।

एक दूसरा कारण भी है जिससे कि नाटक आधुनिक जीवन को चित्रित करने में असमर्थ है। वर्तमान जीवन के सारे चित्र रंगमंच पर उपस्थित ही नहीं किये जा सकते। आधुनिक विचारों के विभिन्न पहलू तथा उसकी सूक्ष्म गतियाँ आधुनिक काल के लिए इतनी महत्वपूर्ण हो गई हैं कि वे सब नाटक के 'स्वगत' के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकतीं। जार्ज इलियट मानव-मन का जो सूक्ष्म चित्रण करती है तथा मेरीडिथ जिस प्रकार स्त्रियों के तर्क को प्रगट करता है, वह रंगमंच पर किस प्रकार लाया जा सकता है? मेरीडिथ के अनुसार लेखन-कला का मुख्य गुण आंतरिक दृष्टि जागृत करना है। किन्तु यह आक्षेप किया जाता है कि विस्तृत वर्णन इस अंतर्दृष्टि को जागृत नहीं करते। इसका

कारण यह है कि मानसिक जगत् का क्षेत्र अभी इन कलाकारों के लिए बिल्कुल नया है। ज्यों-ज्यों मनोविज्ञान का ज्ञान अधिक बढ़ता जावेगा त्यों-त्यों यह मानसिक चित्रण अधिक सूक्ष्मता और पूर्णता की ओर बढ़ता जावेगा।

इस विषय का विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता नहीं कि नाटक और उपन्यास अपनी मूल भावनाओं में कितनी समानता रखते हैं। कथावस्तु और चरित्र कविता के सिद्धान्तों ही से शासित हैं। ग्रीक नाटकों के भाषणों से वर्तमान उपन्यासों के वर्णन की तुलना की जा सकती है। दोनों ही में हमें काव्यात्मक अंश मिलते हैं।

इन बातों से उपन्यास की महत्ता और अधिक प्रगट होती है। जीवन के चित्रण में उसमें भाषा की शक्ति का साधन सबसे अधिक रहता है। साहित्य के अंग के रूप में उसमें हमें कविता की नई परिभाषा मिलती है। अपनी कला के प्रगटीकरण के लिए वह रेल-तार, कल-कारखाने, बिजली और रेडियो सभी का उपयोग करता है। प्रश्न यह उठता है कि कविता के इस नये रूप में कलात्मक उच्चता का प्रधान स्थान रहना चाहिए अथवा वैज्ञानिक सूक्ष्मता का। जीवन के इस नये चित्र में कला की अन्य कृतियों के समान आदर्श-करण का क्या स्थान होना चाहिए? उपन्यास क्या जीवन के यथार्थ चित्रण के बदले उसका कृत्रिम चित्र खींचकर ही सन्तुष्ट हो जावेगा?

इन प्रश्नों के उत्तर देते समय हमें कला के सिद्धान्तों पर विचार करना होगा। इसके पूर्व उपन्यास के इतिहास पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है, क्योंकि वह सिद्धान्तों के विवेचन में सहायक होगा। प्राचीन काल से कथाओं की ओर लोगों की रुचि रही है। लोक-कथाओं, लोक-गीतों तथा खण्ड काव्यों या महाकाव्यों में भी कथाओं की प्रधानता रही है। इतिहास-पुराण भी कथाओं के आधार पर रचे गये। यूरोप में बेलेड का उदय हुआ। ट्राय के युद्ध के आधार पर इलियड महाकाव्य की रचना हुई। महाभारत में उस समय के प्रचलित आख्यानों का संग्रह किया गया। बाद में नलोपाख्यान के आधार पर 'नलोदय' और 'नैषधीय चरित' काव्य तथा रामोपाख्यान के आधार पर रामायण की रचना हुई। इसी प्रकार पंच-तंत्र तथा जातक कथाओं में हमें

लोक-कथाओं की छाप मिलती है। 'कथा-सरित्-सागर' में या उसके पूर्व 'बृहत् कथा-संजरी' में भी तात्कालिक आख्यानों का संग्रह किया गया। इस प्रकार कथा-साहित्य प्रचुर परिमाण में हमारे यहाँ उपलब्ध है।

कथा को भी पद्य-बद्ध करने की हमारे यहाँ प्रणाली पड़ गई थी। गद्य का उदय होते ही कादम्बरी सरीखे कथा-ग्रन्थों का उदय हुआ। इसी को हम गद्य में उपन्यास का प्रारम्भ मान सकते हैं (मराठी में तो उपन्यास के लिए कादम्बरी शब्द ही प्रचलित है)। यूरोप में उसी प्रकार महाकाव्यों और नाटकों के बाद रोमांसों और उपन्यासों का प्रारम्भ हुआ तथा आधुनिक युग में विचार प्रचार तथा समाज-चित्रण का प्रधान साधन बन गया। रोमांस और उपन्यास का अन्तर बताते हुए क्लारा रीव लिखती है—

“उपन्यास यथार्थ जीवन तथा उस समय की रीति-रिवाजों का चित्र है। रोमांस उच्च भाषा में उसका वर्णन करता है जो कभी हुआ नहीं और न होगा।”¹ उपन्यास को इतनी लोकप्रियता क्यों प्राप्त हुई इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने मान लिया है कि कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्य-रूप है। “कविता और नाटक की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीत काव्यों के पुंजीभूत भाव सत्य, दुःखांत नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और कष्ट, गीत-कथाओं की गीत और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य इन सभी पुराने साहित्य-रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया।”²

१४वीं सदी तक रोमांस उस आदर्शात्मक पद्य कथा को कहते थे जो प्रेम अथवा रोमांच (Adventure) का वर्णन करती थी। इसी प्रकार गद्य कथाओं को नोवास अथवा नावेल कहते थे। इस प्रकार की गल्प कथाएँ अंग्रेजी में टेल्स कहलाती थी। सोलहवीं सदी में अंग्रेजी साहित्य में नावेल नाम दिया गया। इसके बाद रोमांस का प्रचलन बन्द हो गया और १८वीं

१. क्लारा रीव : प्रोग्रेस ऑफ रोमांस।

२. आलोचना : वर्ष ४, खण्ड १, पृष्ठ १।

सदी में जब उनका फिर से उदय हुआ तब नावेल नाम प्रचलित हुआ। बंगला के आधार पर हिन्दी में उपन्यास मराठी, में कादम्बरी तथा गुजराती में नवल-कथा नाम चला।

क्लारा रीव की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए क्रास ने लिखा है—

“वास्तविक जीवन का यथार्थवादी विधि से अंकन करने वाला गद्य कथा-साहित्य रोमांस उपन्यास कहा जाता है और जीवन को यथार्थ और अति-रंजित विधि से अंकित करने वाला गद्य कथा-साहित्य रोमांस कहा जाता है।^१

श्री राल्फ फाक्स लिखते हैं—

“उपन्यास गद्य में लिखी गई कथा मात्र नहीं है। वह मनुष्य के जीवन का गद्य है। उपन्यास वह प्रथम कला रूप है जो समग्र मनुष्य को समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।”^२

उपन्यास के मूल में कौन सी भावनाएँ काम कर रही हैं इसका विवेचन करने पर पता लगेगा कि आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति ही उसके मूल में है। महान् उपन्यासकारों ने मनुष्य की जीवित रहने तथा अपने को पाने की इच्छा को ही उपन्यासों में व्यक्त किया है। यूरोप में १८वीं सदी के महान् उपन्यासकार तालस्ताय, विक्टर ह्यूगो, रोम्यारोलां ने व्यक्ति की आत्मोपलब्धि के साथ सारे समाज का चित्र भी हमारे सामने रखा है जिसके वे व्यक्ति अंगभूत थे। किन्तु १९वीं सदी में उपन्यासों में यह आत्मान्वेषण और आत्मोपलब्धि की चेष्टा कम दीखती है। मनुष्य के व्यक्तित्व को छोड़कर उपन्यास प्राणि-शास्त्रीय (ब्रायोलोजिकल) मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक मतवादों के प्रचार का साधन बन गया है। २०वीं सदी के उपन्यासों में यह मानव-तत्त्व बिल्कुल लुप्त होकर सामाजिक तत्त्व की प्रधानता हो गई है।

इसका कारण युग की प्रवृत्तियाँ हैं। एक बार यूरोप में रोमाण्टिसिज्म का काफी बोलबाला था। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थवाद का

१. क्रास : (डेवलपमेंट आफ इंग्लिश नोबिल)

२. राल्फ फाक्स : द नावेल एण्ड द पीपल।

उदय हुआ। जोला ने अपने उपन्यासों में इसका चित्रण किया। बाद में इसको प्रकृतवाद (Naturalism) भी कहा जाने लगा। इसमें मनुष्य अन्य पशुओं के समान 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' का शिकार है। यथार्थ का विभाजन आगे चलकर दो धाराओं में हो गया। एक धारा में मनुष्य के बाह्य मन की अपेक्षा अवचेतन मन (Sub-conscious mind) को विशेष महत्व दिया गया। दूसरी धारा ने मनुष्य को समाज का एक अंग मात्र मान लिया। दोनों ही में मनुष्य का व्यक्तित्व बिल्कुल तिरोहित हो गया। प्रथम मत पर फ्रायड और दूसरे पर मार्क्स का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा।

यदि सत्य को समग्रता में ग्रहण करता है तो हमें मनोवैज्ञानिक या राजनीतिक दृष्टिकोण छोड़कर मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाना होगा। जॉन स्टीनबेक, थार्थर सेलट तथा सिलोने आदि ने घोषित किया है कि आत्मोपलब्धि ही कथा-साहित्य का मूल है, विभिन्न मतवाद नहीं।

उक्त धाराओं के अतिरिक्त दो धाराएँ और हैं जो मनुष्य के आत्मान्वेषण को नये आधार पर स्थापित करती हैं। एक है नास्तिक अस्तित्ववादी और दूसरी आस्तिक मानवतावादी। प्रथम धारा के प्रवर्तक अलबर्ट फेमस तथा जॉर्जॉल सार्त हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद इसका उदय हुआ। अतः अब उनके पात्र अस्वस्थ और भयभीत हैं। दूसरी धारा के समर्थकों पर ईसाई मत का असर है। अतः वे मनुष्य को प्रेम, करुणा और नैतिकता के आधार पर चलाते हैं। इस धारा के प्रतिनिधि हैं, मारियाक और ग्राहम ग्रीन।

बाद में उपन्यासकारों ने इस मानवता की मर्यादा को छोड़कर मनुष्य को कामत्त और लुधार्स ही चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इसलिए उनमें वह जीवनदृष्टि नहीं है जो पिछले कथाकारों में हमें मिलती है। "मनुष्य को जब तक हम उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन प्रक्रिया के विविध आयामों के साथ प्रतिष्ठित नहीं करते, उसका आत्मान्वेषण को पूर्ण प्रसार और उसकी आत्मोपलब्धि को पूरी गहराई तक चित्रित नहीं करते तब तक हमारा उपन्यास पौढ़ नहीं हो सकता।"¹¹

आज के युग को हम अराजकता का युग कह सकते हैं। आज केवल सामन्तशाही या राज-सत्ता के विरुद्ध ही विद्रोह नहीं हुआ है किन्तु प्राचीन स्वीकृत आर्थिक मान्यताओं, सामाजिक नियमों तथा नैतिक मूल्यों के विरुद्ध भी अराजकता दृष्टिगोचर हो रही है। किसी ने ठीक ही कहा है कि आज की सभ्यता की विशेषता है—छिन्न-भिन्नता। राज-सत्ता के विरुद्ध भी प्रजा-सत्ता का अधिकार हो गया है। सामाजिकता के विरुद्ध व्यक्तिवाद प्रबल हो रहा है। संयम और नियम या नैतिकता के स्थान पर पशु-प्रवृत्तियों और मानव-मनोवृत्तियों की उच्छृङ्खलता ही स्वाभाविक मानी जाने लगी है। आज का उपन्यास इसी की उपज है। महाकाव्यों या गीतिकाव्यों का युग चला गया, क्योंकि कवि और जनता के बीच भावनाओं, विचारों और आस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रहा। नाटककार और दर्शकों के बीच वह रागात्मक सम्बन्ध नहीं रहा जो सामंती युग में वर्तमान था।

कलाकार को ऐसे जन-समूह के बीच अपनी बात कहनी है जो सामाजिक रूप से परस्पर असम्बद्ध, राजनीतिक रूप से परम स्वतन्त्र, धार्मिक रूप से नास्तिकता के निकट तथा नैतिक रूप से उच्छृङ्खल हो चुका है। ऐसी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व केवल उपन्यास ही कर सकता है जोकि आज के जन-समाज ही के समान बन्धनहीन, उन्मुक्त और विस्तृत है। आज के उपन्यास का क्षेत्र इतना विशाल हो गया है कि उसमें आकाश-पाताल सभी कुछ समा सकता है। प्राचीन महाकाव्यों में भी स्वर्ग और मर्त्य, आकाश और पाताल सभी का वर्णन होता था। उनमें उच्चता अवश्य थी, किन्तु उपन्यास के समान मानव-समाज के सभी विखरे हुए अंगों को समेटने की व्यापकता या विस्तार नहीं था।

महाकाव्य में पूरे समाज का चित्र रहता था। उसमें जो पात्र रहते थे उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रहता था—वे एक श्रेणी (type) मात्र रहते थे। एक आदर्श की उनमें पूर्ण अभिव्यक्ति होती थी। उनकी उदात्तता, पूर्णता और उच्चता को उपन्यास नहीं पा सकता। रामायण, इलियड, ओडेसी, फाउस्ट आदि की बराबरी आज कोई उपन्यास नहीं कर सकता। किन्तु आज के

समाज की छिन्न-भिन्नता, विविधता तथा संश्लिष्टता के चित्रण के लिए उपन्यास ही उपयुक्त हो सकता है।

साहित्य में समय-समय पर अनेकवादों का उदय होता रहा है। काव्य के समान उपन्यास पर भी इनवादों का प्रभाव पड़ा है। यथार्थवाद, प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, स्वच्छन्दतावाद, रीतिवाद (Formalism) तथा आदर्शवाद आदि सभी का असर उपन्यास-लेखकों पर पड़ता रहा है। यथार्थवादी कलाकार समाज में जो वर्तमान है उसी का चित्रण मात्र करने में अपनी इतिकर्तव्यता समझते हैं। प्रतीकवादी रहस्यवादिता, दुरूहता और सूक्ष्मता से काम लेते हैं जो कि उपन्यास की अपेक्षा काव्यक्षेत्र में ही अधिक प्रचलित हैं। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अति-यथार्थवाद का उदय हुआ। यह स्वच्छन्दतावाद ही का दूसरा रूप है। इसका आधार बहुत से उपन्यासकारों ने लिया। रीतिवाद केवल शैली-विधान ही को महत्व देते हैं, कथावस्तु को नहीं।

उपन्यासकारों में मुख्य भेद यथार्थवादियों और आदर्शवादियों ही में है। प्रकृतवाद यथार्थवाद का ही दूसरा रूप है जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का दावा करता है और मनुष्य के राग-द्वेष तथा स्वभाव का चित्रण करता है। इसका उदय १९वीं सदी में हुआ और एमिला जोला ने इसका प्रतिपादन किया। इसके विपरीत आदर्शवादियों ने मनुष्य की नैतिक उच्चता तथा दैवी गुणों का प्रतिपादन किया। इनमें तालस्ताय रोम्यों रोलं तथा भारत में प्रेमचन्द और प्रसाद आदि प्रमुख हैं। यथार्थवादियों में मैक्स गार्की, हिन्दी में यशपाल और इलाचन्द जोशी आदि आते हैं।

वर्जीनिया वुल्फ ने लेखकों में दो भेद किये हैं—वस्तुवादी और आत्मवादी।

वस्तुवादियों में उरुने वेल्स, बेनेट और गाल्सवर्दी को गिनाया तथा आल्डस हक्सले और जेम्स जाइस को अध्यात्मवादी कहा। वस्तुवादी लेखक महत्वहीन वस्तु में भी अत्यधिक परिश्रम और कौशल का व्यय केवल इसलि करते हैं कि तुच्छ और अस्थायी ही सत्य और शाश्वत जान पड़े।¹

१. वर्जीनिया वुल्फ : माडर्न फिक्शन।

इन लोगों ने समाज को छोड़कर व्यक्ति को अपना केन्द्र बनाया और उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना शुरू किया। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नहीं किन्तु वह भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक क्षणस्थायी आदमियों की एक माला है। इसके चित्रण में सेक्स, धृष्टता, वितृष्णा, असामाजिकता आदि के यथातथ्य और विस्तृत वर्णन होंगे क्योंकि जीवन को रिकार्ड करने के लिए कुछ भी छोड़ना नहीं चाहिए सब कुछ ले लेना होगा।¹

किन्तु दूसरे लेखकों ने इस बात का पता लगाया कि आधुनिक मनो-विज्ञान सभी मानवीय क्रियाओं, विचारों और भावनाओं को पूरी तरह से समझने में असमर्थ है। विशेषकर मनोविज्ञान व्यक्ति का उसकी पूर्णता देखने में असमर्थ रहा है। वह मनुष्य के सामाजिक महत्व को नहीं समझता।² अतः इस प्रवृत्ति के विरुद्ध भी रुझाव में प्रतिक्रिया हुई और वहाँ सामाजिक यथार्थवाद की उत्पत्ति हुई जिसमें उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता तथा कल्पनात्मक रचना तीनों का सम्मिलन किया गया।³ इसी प्रकार चीन में भी प्रतिक्रिया हुई। चीन के कथा-साहित्य ने भी अपनी यथार्थवादी परम्पराओं को सामाजिक परिणति दी।⁴

असल में उपन्यास में अन्य कलाकृतियों के समान जीवन की छाया होनी चाहिए। उसमें समग्र जीवन चित्रित होना चाहिए। यथार्थ जीवन को चित्रित करते हुए भी उसे आदर्शोन्मुख होना चाहिए। स्टेन्डल ने उपन्यास की तुलना एक ऐसे विशाल दर्पण से की है जिसमें यथार्थ जीवन की छाया पड़ती रहती है और जो संसार के राज मार्ग पर अपने ही आप चलता रहता है। यथार्थ जीवन के साथ कला का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए यदि यथार्थ जीवन का चित्रण भी हो तो वह कलात्मक ढंग से होना चाहिए। व्यक्ति.

१. जोड : गाइड टू मार्टन थाट ।

२. आलोचना : वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ २७ ।

३. डी. एस. मर्फी : टेडेंसीज् ऑफ द मार्टन नावल ।

४. चायनीस न्यू लिट्रेचर एण्ड आर्ट ।

समाज का एक अंग अवश्य है और उसे समाजोपयोगी बनने का प्रयत्न और समाज-विरोधी भावनाओं का दमन करना चाहिए। व्यक्ति समाज का घटक होते हुए भी उसमें अपना निज का व्यक्तित्व भी है जिसे विकसित करने का पूरा अवसर मिलना आवश्यक है। इस प्रकार जो उपन्यास यथार्थ और आदर्श, जीवन और कला तथा व्यक्ति और समाज का समन्वय कर सकता है उसी को आदर्श उपन्यास समझना होगा।

अब उपन्यास के उपकरणों पर हम विचार करें। वे हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा वर्णन। कथा का क्रम धारावाहिक रूप से चलते रहना आवश्यक है जिससे पाठकों की उत्सुकता भी बढ़ती रहे और कथा की एकसूत्रता भी न टूटे। कथा एक धारा के समान है जो कि अपने समय की परिस्थिति रूपी किनारों के बीच से सतत बहती रहती है। बहुत से उपन्यासों में लेखक या तो उपदेश देने का प्रयत्न करता है अन्यथा लम्बे-लम्बे वर्णनों के द्वारा कथा-सूत्र को भंग कर देता है। ये दोनों ही बातें कथा-प्रवाह में बाधक होती हैं। उपदेश कथावस्तु से स्वाभाविक रूप से निकलना चाहिए जिसे पाठक स्वयं ही निकाल सकता है। वर्णन भी परिस्थिति के अनुकूल और संक्षिप्त होना आवश्यक है। काव्यात्मक वर्णन असल में महाकाव्यों की विशेषता है। नाटक में चरित्र-चित्रण तथा क्रियाशीलता प्रधान होती है। बहुत से उपन्यासकार उपन्यास में भी महाकाव्य शैली और चरित्र-चित्रण शैली का प्रयोग करते हैं। कुछ ऐसे कलाकार भी हैं जिन्होंने इन दोनों शैलियों का समन्वय किया है। इनमें अंग्रेजी उपन्यासकार सर वाल्टर स्काट प्रधान है। कुछ उपन्यासकार अपने पात्रों को नाटक के पात्रों के समान क्रियाशील बना देते हैं। अंग्रेजी में जॉन आस्टिन और मेरीडिथ के उपन्यास इसके उदाहरण हैं।

हेनरी जेम्स ने उपन्यास को दो विभागों में विभक्त किया है—जीवन्त उपन्यास और जीवन्तरहित उपन्यास। जीवन्त उपन्यास में उसके विभिन्न अंग (जैसे कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और वर्णन) जीवित प्राणी के अंगों के समान एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं और जीवन्तरहित उपन्यास में ये सब

असम्बद्ध अर्थात् संकलन मात्र रहते हैं। असल में कथावस्तु के साथ चरित्र भी प्रगट होता जाता है जिस प्रकार तूलिका के चित्रण से चित्र प्रगट होता है। कथोपकथन से भी चरित्र निखरता है। साथ ही कथोपकथन में वर्णन भी होता जाता है। इस प्रकार ये चारों अंग एक दूसरे से अभिन्न और एकरूप हैं; जिसमें ये सब एकरूप हो जायँ उसी को हम सफल उपन्यास कह सकते हैं। बहुत से लोग उपन्यास के उद्देश्य और उसकी शैली को भी भिन्न मानते हैं। किन्तु असल में ये दोनों भी एक दूसरे को स्पष्ट करने वाले होने चाहिएँ। वही शैली सबसे उपयुक्त है जो अपने उद्देश्य को सफल कर सके। इसी प्रकार कल्पना और यथार्थ में विरोध भी उचित नहीं। विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यासों में कलाकार कल्पना ही के द्वारा यथार्थ की नींव पर आदर्श का भवन निर्माण करता है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि उपन्यास को कहाँ तक अपने सामयिक परिस्थितियों का चित्रण करना चाहिए। यदि उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब या अनुकरण है तो उसमें समय का प्रतिबिम्ब पड़े बिना रह नहीं सकता। किन्तु जो उपन्यास अपने समय तक ही सीमित रहते हैं वे अपने समय में ही समाप्त हो जाते हैं। जबतक वे स्थायी मूल्यों का अंकन न करेंगे तबतक चिरस्थायी न हो सकेंगे। अतः समय और परिस्थितियों का आधार लेकर शाश्वत मूल्यों का अंकन करना उनके लिए बहुत आवश्यक है। हिन्दी उपन्यासों में सामयिक परिस्थिति का हमें बहुत अधिक चित्रण मिलता है, विशेषकर प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्वराज्य आन्दोलन और गांधीवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। उसी प्रकार यशपाल और इलाचन्द जोशी के उपन्यासों में भी सामाजिक और राजनैतिक जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। यथार्थ में कोई भी कलाकार अपने समय के प्रभाव से बच नहीं सकता, बचना भी नहीं चाहिए। आवश्यक केवल यह है कि वह केवल अपने समय तक ही सीमित न रह जावे अन्यथा वह अपने ही समय में समाप्त हो जावेगा।

उपन्यास में नीति मत्ता को कहाँ तक स्थान देना चाहिए इस प्रश्न पर भी लोगों में मतभेद है। यद्यपि यह ऐसा प्रश्न है जिस पर कोई मतभेद नहीं

होना चाहिए। मतभेद इस बात पर अवश्य हो सकता है कि नीति मत्ता को किस रूप में रखा जावे। हिन्दी के प्राथमिक उपन्यासों जैसे 'परीक्षागुरु' आदि में नीति का उपदेश काफी दिया है जिससे जान पड़ता है कि केवल उपदेश के ही लिए वे लिखे गये थे। किन्तु इस प्रकार उपदेश देने की प्रणाली से कलात्मकता में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत आधुनिक उपन्यासों में यथार्थ-वाद के नाम पर वासना और शृङ्गार का खुला चित्रण किया जाता है जिससे कि इन्द्रिय-लोलुपता और वासना को उत्तेजन मिलता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति भी अनुचित है जिससे कि समाज में नैतिकता के महत्व की उपेक्षा की वृत्ति बढ़े। यह बात अवश्य है कि नैतिकता के मानदण्ड समय-समय पर बदलते रहते हैं किन्तु कलाकार का ध्यान उस नैतिकता की ओर होना चाहिए जिसकी समाज में प्रत्येक समय आवश्यकता रहती है और जिसके बिना समाज का जीवन उच्छृङ्खल हो जाने की आशंका है। मनुष्य में उच्च और निम्न दोनों प्रकार की वृत्तियाँ निवास करती हैं। किन्तु निम्न वृत्तियों का अतिरंजित वर्णन करने से उनको और अधिक उत्तेजना मिलती है। अतः कलाकार का कर्तव्य है कि वह निम्न वृत्तियों के भी उन्नयन का प्रयत्न करे और अपना ध्यान मनुष्य के भीतर स्थित प्रेम, त्याग आदि उच्च वृत्तियों की ओर रखे।

उपन्यास के विस्तार और प्रचार के कारण उपन्यासकार का दायित्व भी बढ़ गया है। उसे समाज के निम्न स्तरों को ऊँचा उठाना है न कि उन्हीं के समान शेष समाज को बनाना। निम्न स्तरों से सहानुभूति रखना एक बात है और उन्हीं को आदर्श मान बैठना बिल्कुल दूसरी बात है। प्रसिद्ध आलोचक ग्राहम ग्रीन ने उपन्यास के 'अतिरिक्त आयाम सहानुभूति' की काफी चर्चा की है जिसके बिना उपन्यास की रचना ही नहीं हो सकती। किन्तु सहानुभूति दिखलाने के साथ कलाकार का कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। उसे तो समाज का उच्च स्तर पर निर्माण भी करना है जिससे समाज-विरोधी सूत्रों को उत्तेजन न मिले और व्यक्ति का पूर्ण विकास एक उच्च आदर्श के अनुसार हो।

उपन्यास की प्रशंसा में लोगों ने बहुत सी बातें कही हैं। प्राचीन वाङ्मय

में जितना महत्वपूर्ण स्थान महाकाव्य का था आज के युग में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान उपन्यास का है। वास्तविकता तो यह है कि उपन्यास महाकाव्य का ही परिवर्तित तथा आधुनिक रूप है। आज साहित्य का प्रतिनिधित्व उपन्यास ही करता है। साहित्य का अन्य कोई भी माध्यम जीवन का इतना सत्य तथा पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं कर सकता। यदि इन कथनों में सत्य है तो उपन्यास के महत्व के साथ उसका दायित्व भी बढ़ जाता है। वह जन-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन भी बनाया जा सकता है। उपन्यास की लोकप्रियता का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। जन-हितैषी कलाकार का कर्तव्य है कि उसे लोक-शिक्षा का साधन बनावे और अपनी कलात्मकता से रूखी-सूखी शिक्षा के बदले सरस और सहृदय साहित्य की सृष्टि करे।

द्वादश अध्याय

समालोचक का अधिकार और कर्तव्य

पहले अध्यायों में कला-सम्बन्धी नियमों की चर्चा की जा चुकी है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने अलग-अलग नियम उपस्थित किये हैं। मानव-मन के भिन्न-भिन्न पहलुओं को दृष्टि में रखकर ये नियम बनाये गये हैं। किन्तु यह मानव-मन भी मानवता के विकास के साथ-साथ उन्नत और परिवर्तित होता रहता है। इस कारण किसी भी एक लेखक द्वारा एक युग में निर्धारित नियम प्रत्येक समय के लिए पूर्ण रूप से लागू नहीं किये जा सकते। साथ ही जब हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न युगों में उत्पन्न हुए लेखकों में भी कई बातों में अद्भुत मतेक्य है, तब हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इन नियमों के पीछे कुछ ऐसी सिद्धान्त हैं जिनका कि स्थायी महत्व है।

इसी मतक्य पर समालोचक की स्थिति है। अपने अधिकार को स्थिर रखने के लिए उसे दो बातें करना आवश्यक है। पहले तो उसे अस्थायी नियमों और स्थायी सिद्धान्तों में भेद करना होता है, और दूसरे उसे अस्थायी नियमों को छोड़कर स्थायी सिद्धान्तों का प्रयोग करना होता है। इसी लक्ष्य की ओर साहित्य-समालोचना की प्रगति हुई है। उसकी उन्नति से हमें पता लगता है कि नियमों का क्षेत्र धीरे-धीरे सीमित होता जाता है। इसका अर्थ यह है कि समालोचक अपने अधिकार के क्षेत्र को समझकर अपनी आलोचना में इन सिद्धान्तों का अधिकाधिक उपयोग करने लगा है।

प्लेटो को दृष्टि में समालोचक एक कानून बनानेवाला व्यवस्थापक है जो एक शासक के समान कलाओं के विषयों और उनके नियमों को निर्धारित करता है। अरस्तू के मतानुसार समालोचक 'होमर' और 'सोफोक्लीज'

का प्रतिनिधि है जो कि सब काव्यों को 'होमर' के और सब नाटकों को सोफो-क्लीज के आदर्शों की कसौटी पर कसता है। आधुनिक समालोचना का उदय इसी सिद्धान्त से होता है। सत्रहवीं सदी के समालोचकों ने अरस्तू की 'पोयटिक्स' का आधार लिया। यहाँ तक कि एडीसन ने भी अरस्तू के सिद्धान्तों ही पर 'पेराडाइज लास्ट' को कसा। किन्तु इससे आगे बढ़कर उसने एक ऐसा सिद्धान्त खोज निकाला जिसके अनुसार कविता की परख होने लगी। उसने सन्तुलन आदि ऊपरी नियमों की अपेक्षा कल्पना को प्रभावित करने की शक्ति ही को काव्य का मुख्य लक्षण माना। उसने इस बात पर जोर दिया कि काव्य के वाहनों की अपेक्षा उसकी मुख्य वर्णनीय वस्तु अधिक महत्वपूर्ण हैं और उसी पर आलोचकों को ध्यान देना चाहिए। उसके बाद के आलोचकों ने भी उसी का अनुसरण किया।

यद्यपि लेसिंग ने फिर से काव्य की प्रणाली और उसके नियमों पर अधिक ध्यान देना शुरू किया; किन्तु उसने भी इसी सत्य को स्वीकार किया कि कलाओं की अपील इन्द्रियों के प्रति नहीं वरन् उसका कार्य कल्पना को प्रेरित करना है। इसी प्रकार कजिन्स ने भी इसी सत्य को तात्त्विक दृष्टि से प्रकट करते हुए कहा है कि कला का मुख्य उद्देश्य यथार्थ नहीं वरन् आदर्श है। उसने कलात्मक प्रवृत्तियों के साथ रहने वाली मानसिक प्रणालियों का दिग्दर्शन कराया और यह स्पष्ट किया कि मनुष्य की मानसिक और नैतिक शक्तियों में सौन्दर्य का क्या स्थान है।

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन हमें आधुनिक आलोचकों में भी दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक आलोचक बहुत से नियम बनाकर कलाकार को उनमें बाँधना नहीं चाहता और न ललित कलाओं और अन्य कलाओं में भेद ही करना चाहता है। नियमों के विषय में कलाकार को पूरी स्वतंत्रता देते हुए वह उसके असली गुण को देखना चाहता है; उसकी प्रणाली के बदले उसके तत्व को और दृष्टि रखता है और उन तत्वों को भी विश्व-व्यापक महत्व की तुला पर तौलता है। इस प्रकार यह अस्थायी और परिवर्तनशील के स्थान पर स्थायी और मनातन को महत्व देता है।

निश्चय ही कलाकार की प्रतिभा एक ईश्वरीय देन है। उसे खास नियमों के बंधन में बाँधना या उनकी कसौटी पर कसना असली तत्व को भुलाना है। अब आलोचनाशास्त्र इस पुरानी भूल को दूर करता जा रहा है। इस विषय में वर्ड्सवर्थ का कथन है कि प्रत्येक महान् और मौलिक लेखक अपनी कृति को समझने के लिए लोगों में एक विशेष रुचि उत्पन्न करता है।

पुराने आलोचकों ने उक्त गुण की ओर लक्ष्य नहीं दिया। अमल बात यह है कि मौलिक रचना के लिए कोई बंधे हुए नियम और सिद्धान्त लागू करना बहुत कठिन है। आलोचनाशास्त्र अब उस दर्जे पर पहुँच गया है जब कि वह सिद्धान्तों और नियमों में स्पष्ट भेद करने लगा है। साहित्यशास्त्र सम्बन्धी नियमों को वह अलग रख देता है और यदि उन्हें लागू भी करता है तो यह समझकर कि उनका केवल आशिक महत्व है। इसके बदले वह विचारों के स्थायित्व और आदर्श की ओर अधिक अंतर्दृष्टि के साथ बढ़ रहा है। जो सिद्धान्त मनुष्य-जीवन के अंग बन गये हैं और जिनका विश्वव्यापी प्रयोग सम्भव है उनकी ओर वह अग्रसर हो रहा है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। जब एडिसन ने सत्रहवीं सदी के साहित्य-समालोचना के नियमों का प्रयोग किया तब उसने मिल्टन के सम्बन्ध में लिखा—

“मैंने पैराडाइज लास्ट को कथानक, चरित्र, भावना और भाषा चारों दृष्टियों से परखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि वह इन सभी बातों में दूसरों से आगे बढ़ गया है।” उसका यह निर्णय उन्हीं लोगों के लिए सत्य है जो अरस्तू द्वारा निर्धारित काव्य की कसौटी को मानते हैं। दूसरी ओर मैथ्यू अर्नाल्ड ने यह निर्णय किया कि मिल्टन का स्थान सर्वोच्च कवियों के बीच में है, क्योंकि उसमें ‘उच्च गंभीरता की शुद्ध निष्कपटता’ पाई जाती है। यह कसौटी विश्व-व्यापी और सर्व-सम्मत हो गई है। उनका निर्णय थोड़े लोगों के बदले सर्वमान्य हो गया है। इसी प्रकार स्विनबर्न में अनेक साहित्यिक दोषों के होते हुए भी उसे एक महान् कवि सिद्ध किया क्योंकि उसमें निष्कपटता और शक्ति की महान् और अत्यंत विशेषताएँ थीं।

साहित्य के इस स्थायी तत्व को स्वीकार करते हुए भी आलोचक दो विभिन्न मतों में बँट गये हैं। एक दल मानता है कि प्लेटो के अनुसार सत्य और सामंजस्य की कसौटी ही उपयुक्त है और दूसरा गंगुलन और वाह्य सौन्दर्य को महत्वपूर्ण समझता है। थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि ये दोनों विभिन्न दीखने वाली कसौटियाँ एक ही मूल स्रोत से उत्पन्न हुई हैं, और वह है—शास्त्रीय उच्चता और प्रसाद-गुण। इनमें कोई विशेष अन्तर भी नहीं है।

कोई भी साहित्यिक कृति इसलिए महान् समझी जाती है कि जन-समाज उस कलाकृति का महत्व स्वीकार करता है और आलोचक उसका विश्लेषण कर अपनी आलोचना के फलों को आगे आने वाली कृतियों पर लागू करने लगता है। इस प्रकार कला के नियम उस कला में निष्णात कलाकारों की कृतियों के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। इन कृतियों को इसलिए महत्व नहीं मिलता कि जन-समाज उनके महत्व को स्वीकार करता है। आलोचक केवल उन्हीं बातों को स्पष्ट करता है जो कि पहले ही स्वीकृत हो चुकी हैं। जिस प्रकार जन-समाज की इच्छा ही लोक-व्यवहार में व्यक्त होकर कानून का रूप धारण करती है, उसी प्रकार कलाकार की कला जन-समाज द्वारा स्वीकृत होकर कला के नियमों के रूप में प्रगट होती है।

जब कला के नियम बनने की यह प्रणाली है कि समालोचक महान् कलाकारों की कृतियों के पीछे चलता है और वे कृतियाँ भी जन-समाज द्वारा प्रशंसित होने पर ही महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, तब कलाकृति का महत्व केवल एक ही बात पर रह जाता है—जन-समाज की रुचि। भवभूति ने तो जन-साधारण की अपेक्षा विद्वानों के मन को विशेष आदर दिया है। हम उस निर्णय पर पहुँचेंगे कि परिष्कृत जन-समाज की रुचि ही से कलाकृति की श्रेष्ठता सिद्ध होता है और वही कलाकारों की प्रणाली को भूतकाल में निश्चित करती आई है और आगे भी निश्चित करेगी।

यदि यह तर्क ठीक है तो, हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्रेष्ठ जन-समाज द्वारा निश्चित किया हुआ विचार तत्व, जिसे हम नीति-शास्त्र भी कहते हैं,

सारी मनुष्य-जाति के अनुभव की अभिव्यक्ति है; और यही तत्व सबसे महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र से किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य की चेतना ही पर इन दोनों का प्रभाव पड़ता है, वही उनकी निंदा या प्रशंसा भी करती है और उसी से यह निश्चित होता है कि कलाकृतियों में किसको स्थायी महत्व मिलना चाहिए।

सत्रहवीं सदी में फ्रांसीसी आलोचकों का मत इसी बात पर निर्भर था कि कला-कृति मनुष्य की रुचि और मनुष्य-जाति की उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। इस प्रकार की समालोचना अब मृतप्राय हो गई है, तो भी जिस भ्रम पर उसका आधार था, वह अभी तक इस सिद्धान्त के रूप में अवशिष्ट है कि “कला कला ही के लिए है”।

इस मत के समर्थक मुख्यतः स्विनबर्न हैं। उनका कथन है—“किसी भी कला-कृति का तब तक कोई मूल्य नहीं, जब तक कि वह केवल शुद्ध कला की दृष्टि से ही निर्मित न हो और, जब तक कला के विशेष नियमों की कसौटी पर वह कृति निश्चयात्मक रूप से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध न हो जावे। कविता के क्षेत्र में यह निश्चयात्मक महत्व उसके अनुपम संतुलन ही में है। सभी महान् कवियों में संतुलन जीवन की उत्तेजना तथा अंग-संचालन की शालीनता के साथ पाया जाता है। इसी से उनकी कृति में शक्तियुक्त माधुर्य और पौरुषहीन शक्ति मिलती है। इसलिए काव्य के महत्व में नैतिक तत्व या उद्देश्य को कोई स्थान नहीं है।”

यदि आलोचक केवल शास्त्रीय नियमों ही में सीमित है तो अवश्य ही उसे नैतिकता से कोई मतलब नहीं है, किन्तु ऐसा आलोचक मिलना कठिन है जिसे कलाकार से भी अधिक उस कला के नियमों का ज्ञान हो। इसलिए उस पर उनका कोई निर्णय महत्व नहीं रखता, क्योंकि वह मनुष्य को प्रसन्न करने के महत्वपूर्ण गुण की ओर बिल्कुल दुर्लक्ष्य कर देता है। इस विषय में ‘वर्ड्सवर्थ’ ने कविता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह दूसरी ललित कलाओं के लिए भी लागू होता है।

इतिहास या जीवन-चरित्र की तुलना में काव्यगत सत्य कितना महत्वपूर्ण

होता है इस सम्बन्ध में उसका कथन है—“कवि केवल एक प्रतिबंध को मानता है और वह है—मानव-जाति को तात्कालिक आनन्द देने की आवश्यकता। वह कोई वकील, वैद्य, ज्योतिषी या तत्ववेत्ता के नाते उपदेश नहीं करता वरन् एक मनुष्य के नाते अपने भाव प्रकट करता है। इस एक नियम के अतिरिक्त, कवि और उसके आदर्श के बीच कोई प्रतिबंध खड़ा नहीं रह सकता।” कवि के समान चित्रकार और मूर्तिकार भी इसी नियम के अनुसार कार्य करते हैं। उसका उद्देश्य होता है किसी स्थायी महत्व की कलाकृति का निर्माण करना, मनुष्य-जाति को ऐसी भेंट देना जो कि उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न कर सके। गो० तुलसीदास ने ‘स्वान्तः सुख’ और ‘सर्वहित’ इन दोनों के सम्मिलन को काव्य का उद्देश्य माना है। तात्कालिक आनन्द की अपेक्षा जनसमाज का स्थायी हित साधन अधिक उपादेय है। यही कसौटी है जिस पर कला की सफलता या विफलता कसी जा सकती है।

रस्किन ने नैतिकता को कलाकार की शक्ति का मूल आधार और उसकी कला के महत्व की कसौटी माना है। उसकी दृष्टि में नैतिकता का अर्थ मनुष्य-जाति की भावना से समरसता तथा उसकी स्पष्ट और स्थायी अभिव्यक्ति ही है। इस तत्व पर जोर देते हुए वह लिखता है—“उच्च पुरुष उचित उद्देश्यों के लिए जो हर्ष या विषाद प्रगट करते हैं वही कला की पूर्ण अभिव्यक्ति है। वही मानव का असली संगीत है। वह उद्देश्य जितना भी न्यायोचित होगा, और भावना जितनी भी शुद्ध होगी, ललित कला भी उतनी ही सूक्ष्म और यथार्थ होगी। ललित-कला की सूक्ष्मता ही नैतिक शुद्धता और भावनागत उच्चता की प्रदर्शिका है। यह तत्व सभी कलाओं के लिए लागू है। इस प्रकार किसी राष्ट्र की कला उसकी नैतिक अवस्था की व्यञ्जिका है।”

कला की परिभाषा करते हुए वह लिखता है—“मैं यह नहीं कहता कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे अधिक आनन्द देती है; क्योंकि ऐसी कलाएँ भी हो सकती हैं, जिनका उद्देश्य आनन्द देने के बदले उपदेश देना ही होता है। मैं यह भी नहीं कहता कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जो अधिक उपदेश देती है; क्योंकि ऐसी कला भी हो सकती है जिसका उद्देश्य उपदेश देना न होकर

केवल प्रसन्न करना ही होता है। मेरा यह भी मत नहीं है कि जो कला सबसे अच्छा अनुकरण करती है वही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि किसी-किसी का लक्ष्य अनुकरण के बदले सृजन करना होता है। किन्तु, मैं यह अवश्य कहता हूँ कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जो कि दर्शक के हृदय में अधिक संख्या में उच्च विचार पहुँचाती है। उच्च विचार मैं उसी को कहता हूँ जो कि उच्च मानसिक शक्ति द्वारा ग्रहीत होता है और मन में स्थान पाने के साथ ही मन को उच्च और विशुद्ध बनाता है।” यदि कला की यह परिभाषा हम स्वीकार करते हैं तो कलाकार की परिभाषा भी इसी के आधार पर करनी होगी, और कहना होगा कि सर्वश्रेष्ठ कलाकार वही है जो अपनी कृति में अधिक से अधिक संख्या में सर्वोच्च विचारों को व्यक्त करता है जिनसे जनता का सच्चा सुख और हित साधन हो सके।

इस प्रकार रस्किन की समालोचना एक ही कसौटी पर सभी कलाओं को कसती है; वह यह कि किसी समाज के नैतिक नियमों से मानवता की जो भावना प्रकट होती है, उनसे जिस कला का सामंजस्य है वही सर्वश्रेष्ठ है। वह मानवी भावनाओं और आकांक्षाओं के मूलाधार पर ही अपनी कृतियों को स्थापित करता है।

‘कला कला ही के लिए’ वाले सिद्धान्त में कलात्मक उच्चता और नैतिकता में जो व्याघात स्वीकार किया गया है वह उक्त सिद्धान्त के सामने ठहर नहीं सकता। इसी कारण समालोचक नई कला-कृतियों को जाँचने के लिए पुरानी कला-कृतियों के महत्व की कसौटी का प्रयोग करता है, उन्हीं की तुलना में वह नवीन कला-कृतियों के महत्व को स्वीकार या अस्वीकार करता है।

सभी प्रकार की आलोचना में प्राचीन तथा आधुनिक कला-कृतियों का तुलनात्मक विवेचन ही मुख्य होता है। एडीसन के मतानुसार—
“साहित्यिक रुचि वह गुण है जो किसी लेखक की सुन्दर कृतियों को आनन्द के साथ और उसके दोषों को दुःख के साथ अलग-अलग करता है। यदि किसी मनुष्य को यह पता लगाना हो कि उसमें यह सुरुचि कहाँ तक वर्तमान है

तो मैं आग्रह करूँगा कि वह प्राचीन कला-कृतियों का अध्ययन करे जो कि देश और काल की कसौटी पर अच्छी तरह कसी जा चुकी है।”

मैथ्यू अर्नोल्ड ने भी इसी प्रकार सलाह दी है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कला की समालोचना महान् कलाकारों की कृतियों का परीक्षण और उनकी महानता की घोषणा ही है। यह समालोचना विधायक रूप से कलाकारों की प्रणाली को नियमों का रूप देती है। किन्तु समालोचक यह निर्णय नहीं देता कि किस कारण किसी कला-कृति को इतना महत्व मिला है। वह तो केवल मनुष्य-समाज के द्वारा व्यक्त किये हुए निर्णय को अभिव्यक्त या नियमित करता है। आधुनिक कृतियों के सम्बन्ध में वह मनुष्य-जाति की इसी भावना को संतुष्ट करने वाली प्राचीन कृतियों से उनकी तुलनात्मक आलोचना सामने रख देता है।

समालोचक और कलाकार में केवल यह अन्तर है कि समालोचक मनुष्य-जाति की सुरुचि के साथ इस सामंजस्य की कसौटी को बहुत परोक्ष रूप से लागू करता है। जो कला-कृतियाँ उसे सन्तुष्ट करती हैं उन्हीं के द्वारा वह कला की उत्कृष्टता का निर्णय करता है। कलाकार अपनी आलोचना के क्षेत्र में इस कसौटी का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करता है। इसी कारण नम्र से नम्र कलाकार भी यह समझता है कि मनुष्य-जाति की सुरुचि को सन्तुष्ट करने में वह एक ऐसे प्रमाण का पालन कर रहा है जो किसी भी आलोचक के मत में श्रेष्ठतर है।

सभी देशों के विद्वान् आलोचक अब यह मानने लगे हैं कि आलोचक का सम्बन्ध कवि या कलाकार की अपेक्षा पाठक या दर्शक ही से अधिक घनिष्ठ है। वे यह नहीं बतलाते कि कवि को किस प्रकार काव्य-रचना करना चाहिए अथवा चित्रकार को किस प्रकार चित्रण करना चाहिए, वरन् वे पाठकों व दर्शकों को यह बतलाते हैं कि उस काव्य या चित्र का रस किस प्रकार लेना चाहिए। इस प्रकार की समालोचना बहुत यथार्थ जान पड़ती है। इस आलोचना से कलाओं में जो सबसे विशेष या महत्वपूर्ण गुण है उनका जनता में प्रचार होता है। इससे जनता में जिस साहित्य सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता

है उसका विस्तार भी होता है। साथ ही जनता कला-कृत क गुण-दाषा का समझने और जाँचने के कार्य में अभ्यस्त होती है। कला-कृतियों के अनुकरण और उनकी मूल वस्तुओं की तुलना करना उतना कठिन नहीं है, और कवियों द्वारा वर्णित चरित्रों तथा साधारण नर-नारियों में तुलना करना भी सरल है। किन्तु उस वर्णन में जिस नैतिक आदर्श और उच्च आदर्श का वर्णन है उसको समझना और उसकी विशेषता बताना बहुत कठिन होता है। और वही कार्य आधुनिक समालोचक करता है। उसके लिए साहित्य या कला के आदर्श रूप का दर्शन उतना ही स्वाभाविक हो गया है जितना कि एक वैज्ञानिक के लिए प्रकृति या मनुष्य का अध्ययन।

सफ़ज आलोचकों की कृतियों में हमें इसी बात का इतिहास मिलता है कि साहित्य और कला की कृतियों में गुणग्राहकता की अनुभूति किस प्रकार अज्ञात रूप से बढ़ते-बढ़ते वर्तमान ज्ञात रूप में परिणत होती है। कला के उत्पत्तिकाल के प्रारम्भ से होने वाले प्रभाव का विश्लेषण करना उन्हें नियमों में बाँधना और उन्हें सर्वसाधारण के समझने लायक विचारों में ग्रथित करना ही आलोचनाशास्त्र का मुख्य विषय रहा है।

वेन जॉनसन ने एक स्थान पर कहा है कि सबसे अच्छा समालोचक कवि ही हो सकता है, दूसरा नहीं। चित्रकार के गुण-दोषों को चित्रकार ही परख सकता है। इंजीनियर ही इंजीनियर के गुण-दोषों को जान सकता है। बात ठीक है, किन्तु ललित-कलाओं में भी अनेक भेद होते हैं और स्थापत्य-कला आदि में भी अनेक प्रकार होते हैं। अतः एक विभाग का इंजीनियर दूसरे विभाग के इंजीनियर की परख नहीं कर सकता। उसी प्रकार एक कवि भी दूसरे कवि की कला का पूर्ण ज्ञाता नहीं माना जा सकता।

लेखन-कला में केवल लेखक ही मुख्य नहीं है, पाठक भी है। एक छोर पर यदि वक्ता बोलता है तो दूसरे छोर पर श्रोता सुनता भी है। वक्ता अपनी वाणी को उतनी अच्छी तरह नहीं परख सकता जितना कि श्रोता। उसी प्रकार लेखक अपने गुण-दोष उतनी अच्छी तरह नहीं जान सकता जितना कि पाठक समझ सकता है। यह अवश्य है कि वह पाठक भी साहित्य-

कला का ज्ञाता होना चाहिए। इसी कारण कवि या गायक के श्रोता; और लेखक के गुण-दोषों को पाठक ही समझ सकता है। वक्ता और कवि की तरह श्रोता या पाठक को भी अपनी कला का ज्ञान होना चाहिए। साधारण श्रोता या पाठक यह अवश्य कहता है कि अमुक संगीत, कविता या लेखन उसे अच्छा लगता है किन्तु विद्वान् श्रोता या कलाविद् पाठक ही उसके अच्छे-बुरे होने का कारण बता सकता है।

कलाकार और आलोचक में यदि हम भेद करें तो कह सकते हैं कलाकार उस अग्रगामी पुरुष के समान है जो सड़क का निर्माण करता है और समालोचक उस निरीक्षक के समान है जो सड़क की जाँच करने जाता है। जाँच करने वाले को सड़क बनाने की कला का ज्ञान भी होना चाहिए किन्तु जाँच करने के लिए केवल वह ज्ञान ही काफी नहीं है; उसमें तुलनात्मक दृष्टि भी होनी चाहिए। उसी प्रकार आलोचक में कवि कला के ज्ञान के अतिरिक्त तुलना और विभेद (comparison and contrast) जानने की भी शक्ति होनी चाहिए।

यह बात भी ठीक है कि प्रत्येक जाँच करने वाला सड़क नहीं बना सकता है और ना ही प्रत्येक आलोचक कवि या लेखक हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक सड़क-निर्माता जाँच भी नहीं कर सकता और न प्रत्येक कवि आलोचक ही हो सकता है। दोनों में कुछ बातों में समता होते हुए भी कुछ अलग-अलग विशेषताएँ भी होती हैं।

यदि आलोचक प्राचीन कवि या ग्रन्थ की आलोचना कर रहा है तो उसे देश और काल की बाधाओं को हटाकर किसी कृति की विशेषता देखनी होती है और यदि वर्तमान कवि या ग्रन्थ की आलोचना करनी है तो अति परिचय की अवस्था को हटाकर, निष्पक्ष आलोचक को अपना दृष्टिकोण एक ओर रखकर कवि या लेखक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करना होगा।

• लेखक जहाँ से प्रारम्भ करता है वहाँ से समालोचक प्रारम्भ नहीं कर सकता। यदि सड़क-निर्माता एक ओर से सड़क बनाता है तो जाँचकर्ता

दूसरे छोर से जाँच करना शुरू करता है। जिस कठिनाई से पहाड़ जंगल काट कर नीची भूमि ऊँची कर और ऊँची को समतल कर सड़क बनाई गई है उस कठिनाई का अनुभव जाँचकर्ता नहीं कर पाता और ऊपरी दोष उसके दृष्टि-पथ पर आते हैं—सड़क यहाँ टेढ़ी क्यों हुई, वहाँ ऊँची क्यों हुई, यहाँ नीची क्यों हुई ? इसी प्रकार आलोचक भी सोचता है—इस पात्र का चरित्र विकसित क्यों नहीं हुआ ? यहाँ की भाषा अधिक मधुर क्यों नहीं हुई ? यह शब्द यहाँ क्यों रखा गया ? लेकिन लेखक की कठिनाइयों या परिस्थितियों का अनुभव न कर सकने के कारण आलोचक कभी-कभी केवल दोष-द्रष्टा या छिद्रान्वेषक बन बैठता है, जिसके लिए कवि ने कहा है—

“निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय ।”

इसके विपरीत अधिक पक्षपात के कारण कुछ आलोचक केवल भाट बन कर कवि के गुणगान करने लगते हैं और दोषों को आँखों से ओझल कर देते हैं (यद्यपि निन्दा करने की अपेक्षा प्रशंसा करने की वृत्ति अच्छी है) । आदर्श समालोचक तो तुलसीदास का सा संत ही हो सकता है जो कि हंस के समान दोष रूपी वारि-विकार का परित्याग कर गुणरूपी पय ग्रहण कर लेता है—

“ संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार ।”

सड़क और कला-कृति की उपमा यदि आगे बढ़ावें तो कह सकते हैं कि जाँच करने वाले की तरह आलोचक को सड़क की दिशा का ज्ञान होना चाहिए । मानव-जीवन ही वह मार्ग है जिसका कवि निर्माण करता है । अतः आलोचक को भी मानव-स्वभाव, मानव-मनोविज्ञान (व्यक्तिगत और सामाजिक) का ज्ञान होना अनिवार्य है । जिसके बिना वह किसी कला-कृति की परख ही नहीं कर सकता । वर्क के शब्दों में “जिस वस्तु की वह जाँच करने चला है उसके अंतरंग का उसे ज्ञान होना आवश्यक है ।”

मानव-जीवन के ज्ञान का अर्थ है—मानव की पूर्ण परम्परा, उसकी संस्कृति, उसका इतिहास । प्रसिद्ध आलोचक क्रोचे के शब्दों में—“इतिहास मनुष्य के भूतकाल की स्मृति ही तो है जिसे वह इतना प्यार करता है ।” टी० एस० इलियट के अनुसार—“इतिहास ज्ञान केवल भूतकाल का ज्ञान

नहीं किन्तु वर्तमान की उपस्थिति है। इतिहास कोई भूतकाल की पुरानी हड्डी नहीं है किन्तु सम्पूर्ण साहित्य के भीतर जो एक अनुगुण परम्परा है, उसका जीवित परिचय है।”

कला का क्षेत्र वह जीवन है जो हमारे चारों ओर आकाश के समान व्याप्त है, विस्तृत है और ओतप्रोत है। जिस विस्तृत नभ के प्रांगण में कलाकार विहार करता है उसी में आलोचक को भी विचरण करना होगा तभी वह कवि को जान सकेगा वर्तमान के संकुचित क्षेत्र को छोड़कर उसे भूतकाल की विशाल क्षितिज तक दृष्टि दौड़ानी होगी।

कलाकार निर्माण करता है इसलिए उसे प्रजापति कहा गया है।^१ वह विश्व को अपनी इच्छानुसार बनाता-बिगाड़ता है। यदि कवि निर्माता है तो आलोचक को पुनर्निर्माण-कर्ता कहना होगा। वह कवि द्वारा बनाई गई इमारत में खिड़की निकालना चाहता है, कहीं द्वार फोड़ना चाहता है और कहीं दीवार ही गिराना चाहता है। कुशल यही है कि वह पूरी इमारत ही दहाना नहीं चाहता! उसका उद्देश्य कलाकार के निर्माण सम्बन्धी दोषों को बताकर उसे फिर से दृढ़तापूर्वक निर्माण करना तथा गुणों को बताकर दर्शकों को उसकी ओर आकर्षित करना है।

इस सम्बन्ध में आलोचकों के दो मत हो गये हैं। टी० एस० इलियट के साथ कुछ लोग समझते हैं कि कलाकार के पास प्रकाशन के लिए अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। दूसरी ओर सेंट व्यूव प्रत्येक कला-कृति में कलाकार को खोजने का प्रयत्न करता है।

इस मत के आलोचक कवि को उसके चित्रित पात्रों में खोजते हैं। वे कहते हैं कि रोम्याँ रोलॉ ने “जी क्रिस्तोफ” में अपने आत्मचरित्र को चित्रित किया है। सर वाल्टर रैले ने शेक्सपियर के ग्रन्थों के आधार पर उसकी जीवनी लिखने का प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रत्येक कलाकृति पर कलाकार

१. अपारे काव्य संसारे, कविरेव प्रजापतिः।

यदस्मै रोचते विश्वं तत्तथैव विधीयते ॥ —अग्निपुराण

के व्यक्तित्व की छाप अवश्य पड़ती है। रामचरितमानस के भरत पर तुलसीदास का भक्ति, नम्रता और दीनता की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। श्रीकान्त में शरदचन्द्र का व्यक्तित्व झलकता है और प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द का। किन्तु डिकिन्स और रवीन्द्रनाथ सरीखे लेखकों ने इतने प्रकार के चरित्रों का चित्रण किया है कि उनका व्यक्तित्व उसमें खोजना कठिन है। अतः लेखक और चरितनायक को एक समझ लेना ठीक नहीं है। कला-कृति को कलाकार से पृथक् करके देखना समालोचक के लिए आवश्यक हो जाता है। कला-कृति कलाकार की आत्माभिव्यक्ति अवश्य है किन्तु कलाकार को कला-कृति से एक रूप समझ लेना उचित नहीं।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि आलोचक का कार्य क्रियात्मक कलाकार ही के समान है। आलोचना एक शास्त्र है, विज्ञान है; किन्तु साथ ही वह लेखन-कला के समान एक कला भी है। सेण्ट व्यूव के शब्दों में—
“समालोचना एक ऐसी कला है जिसके लिए एक कुशल कलाकार की अपेक्षा होती है। कविता का स्पर्श एक कवि ही कर सकता है।”

कलाकार और समालोचक दोनों के कार्य एक-से होते हुए भी उनमें थोड़ा अन्तर है। कवि अपना विषय चारों ओर के जीवन से चुनता है। किन्तु समालोचक को अपना विषय कलाकारों के ग्रन्थों में से चुनना पड़ता है। अतः वह प्रत्यक्ष जीवन की आलोचना न कर ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित जीवन की वह परोक्ष आलोचना करता है। किन्तु बिना प्रत्यक्ष जीवन का अनुभव हुए वह इस बात का निर्णय नहीं दे सकता कि जीवन कला-कृति में ठीक-ठीक चित्रित हुआ है या नहीं। निर्माण-कार्य दोनों करते हैं। कवि जीवन के चित्रों का निर्माण करता है और आलोचक साहित्य के चित्रों का। कवि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिहार करने के लिए स्वतन्त्र रहता है जबकि समालोचक साहित्य में चित्रित जीवन तक ही सीमित रहता है। उसे निर्माण करते समय वैज्ञानिक या दार्शनिक पद्धति का भी आश्रय लेना पड़ता है। अतः वह कलाकार के स्थान पर कभी-कभी वैज्ञानिक या दार्शनिक बन बैठता है।

आलोचक जनता का प्रतिनिधि बनकर उसकी दृष्टि से कला-कृति को देखता है। जनता के दृष्टिकोण के साथ उसे लेखक या कवि के दृष्टिकोण से भी देखना पड़ता है जिसे समझे बिना वह कला-कृति के असली तात्पर्य को नहीं समझ सकता। वह लेखक का दृष्टिकोण पाठक को समझाने का काम करता है। साथ ही उसे पाठक की दृष्टि से भी ग्रन्थ को देखना होता है। उसका कार्य “उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी” के समान है। किन्तु उसका सबसे बड़ा कार्य है एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में कला-कृति की परीक्षा करना। शुद्ध कलात्मक दृष्टि को सामने रखे बिना वह कला की परीक्षा भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार समालोचक समय-समय पर विभिन्न रूप धारण करता रहता है। कभी वह प्रशंसक हो जाता है कभी दोष-दर्शक। कभी वह टीकाकार बन जाता है, तो कभी भाव्यकार। कभी वह कलाकार बन जाता है कभी पाठक। लेखक ने जिन विचारों को संक्षेप में व्यक्त किया है वह उनका विस्तार करता है, अर्थ समझता है तथा व्याख्या करता है। जिन बातों को लेखक छोड़ गया है उनकी भी वह कल्पना करता है और कभी-कभी ऐसे अर्थ भी निकाल देता है कि जो लेखक या कवि ने कभी सोचे भी न होंगे। तुलसीदास की एक चौपाई के सोलह लाख अर्थ करने का दुष्कर कार्य भी वह कर बैठता है। वह कभी अनुसंधानकर्ता बन जाता है और कभी इतिहासज्ञ। वह कभी साहित्य का प्रचारक बन जाता है और कभी उसका समर्थक। किन्तु उसका मुख्य कर्तव्य यह है कि वह हमारे सामने साहित्य का ऐसा जीवित चित्र रखे जो समाधानकारक भी हो और रमणीय भी।

संदर्भ ग्रन्थ

संस्कृत

ग्रन्थ	लेखक
१. रामायण	वाल्मीकि
२. भागवत	वोपदेव
३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
४. रघुवंश	कालिदास
५. मेघदूत	कालिदास
६. किराताजुनीय	भारवि
७. उत्तर रामचरित	भवभूति
८. नैषधीयचरित	श्री हर्ष
९. दशकुमारचरित	दण्डी
१०. नाट्यशास्त्र	भरतमुनि
११. अभिनव भारती	अभिनवगुप्त
१२. अग्निपुराण	व्यास
१३. काव्यालंकार	भामह
१४. काव्यादर्श	दण्डी
१५. काव्यालंकारसूत्र	वामन
१६. काव्यालंकार	रुद्रट
१७. काव्यालंकार सार-संग्रह	उद्भट
१८. काव्यमीमांसा	राजशेखर
१९. ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
२०. वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
२१. सरस्वती कण्ठाभरण	भोजराज
२२. व्यक्ति-विवेक	महिम भट्ट

२३.	दशरूपक	धनञ्जय
२४.	काव्यप्रकाश	मम्मट
२५.	साहित्य-मीमांसा	सूयक
२६.	साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
२७.	औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
२८.	कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र
२९.	चित्र मीमांसा	अप्पय दीक्षित
३०.	रस गंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ
३१.	शुक्ल यजुर्वेद	

अंग्रेजी

32. Aesthetics : Benedetto Croce ; translated by Douglas Ainslie.
33. The Making of Literature : Scott James.
34. The Principles of Criticism : Worsfold.
35. Judgment in Literature : Worsfold.
36. Sanskrit Literature : MacDonald.
37. Indian Aesthetics : Hiriyanna, An article from The First Oriental Conference Poona, Vol. II.
38. Sublime and Beautiful.
39. Savitri : Shri Arbindo.
40. Letters : Shri Arbindo, Part III.
41. Progress of Romance : Clara Reeve.
42. Development of Novel : Cross.
43. The Novel and the People : Rulph F.
44. Modern Fiction : Virginia Wolf.
45. Guide to Modern Thought : C. E. M. Joad.
46. Tendencies of Modern Novel English : Hugh Walpole.
47. Tendencies of Modern Novel, Russia : D. S. Murski.
48. Chinas New Literature and Art.

बंगला

४६.	साहित्य के स्वरूप	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
५०.	साहित्य	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
५१.	गीत वितान	रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मराठी

५२.	प्रतिभा साधन	ना. सी. फडके
५३.	जीवन-साहित्य	आचार्य भगवत

गुजराती

५४.	रस दर्शनो	क. मा. मुन्शी
५५.	थोगंक साहित्य सर्जन	रामनारायण पाठक

हिन्दी

५६.	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
५७.	सुन्दर शृंगार	सुन्दरदास
५८.	सुधानिधि	तोष
५९.	शृंगार मंजरी	चिन्तामणि
६०.	रसरराज	मतिराम
६१.	रसार्णव	सुरदेव
६२.	रसविलास	देव
६३.	भावविलास	देव
६४.	रामचन्द्रिका	उजियारे
६५.	शृंगार-शिरोमणि	यशवन्तसिंह
६६.	रसविलास	रामसिंह
६७.	जगत्-विनोद	पद्माकर
६८.	नवरत्न तरंग	बेनी प्रवीण
६९.	रस-रहस्य	कुलपति
७०.	काव्य-रसामन	देव
७१.	काव्य-सिद्धान्त	सूरति मिश्र

७२.	काव्य-सरोज	श्रीपति
७३.	काव्य-निर्णय	भिखारीदास
७४.	शृंगार-निर्णय	भिखारीदास
७५.	कविता रस-विनोद	जिनराज
७६.	साहित्य-सुधानिधि	जगत् सिंह
७७.	काव्य-रत्नाकर	रणधीरसिंह
७८.	व्यंग्यार्थ-कौमुदी	प्रतापसाहि
७९.	पल्लव	सुमित्रानन्दन पंत
८०.	षोडश ग्रन्थावली	हितहरिवंश
८१.	वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना	रामनरेश शर्मा
८२.	आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त	एस. जी. खन्ना
८३.	काव्य कल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार
८४.	रसकलस	अयोध्यासिंह उपाध्याय
८५.	हिन्दी साहित्य में विविध वाद	प्रेमनारायण शुक्ल
८६.	आलोचना—वर्ष ३, अंक १-३,	
८७.	आलोचना—वर्ष ४, अंक १, उपन्यास विशेषांक ।	
८८.	नन्ददास ग्रन्थावली	नन्ददास
८९.	मीरा बृहद पद संग्रह	मीराबाई
९०.	साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि	बुद्धिनाथ झा

